सिद्ध योग

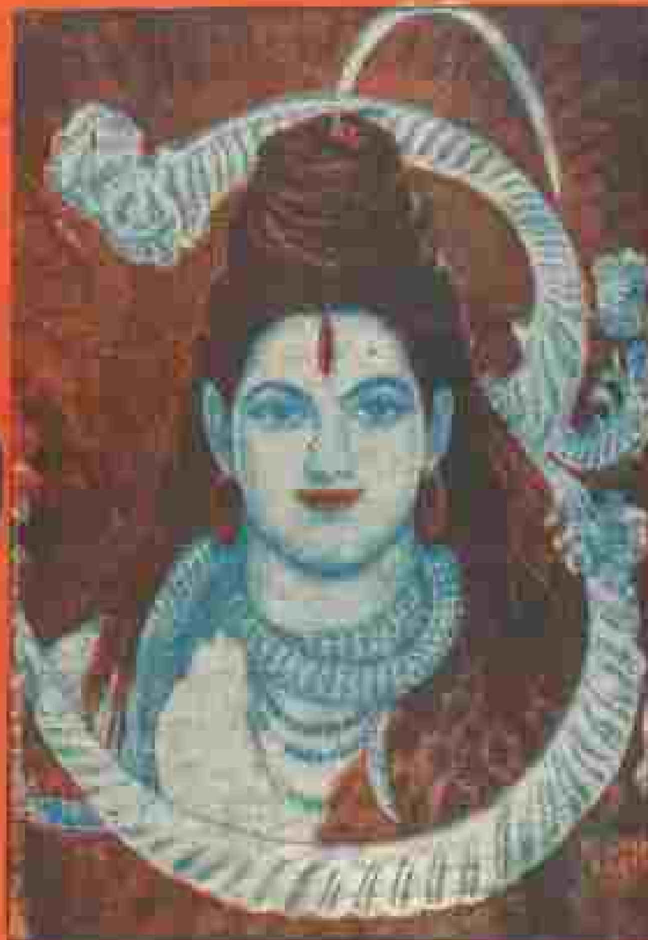

संस्थापक सम्पादक :-
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८
अंक ५

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

ॐ तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः	१
ॐ अन्तराय और उनके सहभुव योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	२
ॐ अपने जीवन को दिव्य बनाइये स्वामी श्री कृष्णानन्द	५
ॐ मामेकं शरणं व्रज: श्री कपिलदेव उपाध्याय	९
ॐ शिष्टाचार श्री चन्द्रभान गुप्ता	११
ॐ गुरु नानकदेव (ब्रह्मचारी) श्री प्रभुदत्त	१५
ॐ गीता और निष्काम कर्म श्री शालिगराम शर्मा	२०
ॐ दानवीर कर्ण श्री कृष्णकुमार पाण्डेय	२३
ॐ योग और अनुशासन श्री० के० बी० भट्ट	२६
ॐ योगेश्वर चरित्र माला श्री गुरुदेवजी द्वारा	३०
ॐ गो-सेवा से ब्रह्मज्ञान श्री केशवदेव उपाध्याय	३५
ॐ विश्वास और अनुभव स्वामी श्री रामसुखदास जी	३८
ॐ आश्रम समाचार— ब्रह्मचारी श्री सतीन्द्र	४०
ॐ यौगिक प्रश्नोत्तरी	४३
ॐ योगासन और उनके लाभ	४५

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

जौलाई १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ३ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क ४	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तस्मात्यत्नात् बहुविषयं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	जौलाई १९८५

❀ तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ❀

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः।
किंवा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरा कोऽपि किम्॥
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणा जनै-
र्नक्रुद्धाःपथिनैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।

अर्थात्

क्या यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण है, शूद्र है किंवा तपस्वी है ? अथवा तत्त्वज्ञान में चतुर कोई योगीश्वर है ? इस तरह अनेक प्रकार के संशय से पूर्ण तर्क वितर्क द्वारा मार्गों में छेड़ छाड़ किये जाने पर भी न तो चाण्डाल कहने पर क्रुद्ध हुए न ब्राह्मण कहने पर प्रसन्न हुये। योगी बिना उत्तर दिये चुपचाप चलते ही जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठ योगी न तो प्रिय वस्तु प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं, न और अप्रिय वस्तु से अप्रसन्न ही होते हैं।

हमारा विशेष लेख—

अन्तराय और उनके सहभुव

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग-भूमिकाओं में जब योग-साधक शनैः शनैः आगे बढ़ने लगता है तब उसके मार्ग में कुछ ऐसे विघ्न आ जाया करते हैं, जिनसे उसके आगे बढ़ने की गतिमें रुकावट आ जाया करती है। योग की भाषा में मार्ग-अवरोधक इन विघ्नों को अन्तराय और विक्षेप कहकर इंगित किया गया है। प्रत्येक योग साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह योग-मार्ग में आने वाले अन्तराय और विक्षेपों के स्वरूप को समझे और सतत् जागरूक रहकर इनसे बचने का प्रयत्न करता रहे।

योग-दर्शन के समाधि पाद के ३०वें सूत्र में अन्तरायों का और ३१वें सूत्र में विक्षेपों का जो नवधा अन्तरायों के ही सहभुव यानी सहकारी व साथी हैं—का उल्लेख किया गया है। अन्तराय और विक्षेप—सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इनमें नाम-भेद भले ही हो, पर गुण धर्म के नाते से ये सब एक ही हैं। कार्य भी इनका एक जैसा ही—यह रहता है कि ये सब मिलकर अथवा एक-दूसरे का सहयोग करके योगी को साधना-मार्ग में आगे बढ़ने से रोक देते हैं और यदि इन्हें प्रयत्न-पूर्वक हटाया न जाय तो उसे चारों खाने ऐसा चित्त लिटा देते हैं कि फिर उसको सम्हल कर उठ खड़ा होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इसलिये प्रत्येक जागरूक योग-साधक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इनके स्वरूप और गुण धर्म को ठीक-ठीक समझे और समझ कर इनके समूलोन्मूलन का ऐसा सद् प्रयत्न करे जिससे इनका अस्तित्व साधक के मार्ग में बाधक न बने।

महर्षि पतञ्जलि जी ने इन अन्तरायों के नामरूप का परिचय, जो संख्या में ९ हैं योग-दर्शन के ३०वें सूत्र में इस प्रकार दिया है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित-त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

अर्थात् व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवस्थितत्व, चित्त-विक्षेप ये नवधा अन्तराय या विघ्न हैं योग-मार्ग के।

इन विघ्नों का आश्रय मनुष्य की अन्तर इन्द्रिय रजोगुण प्रधान चित्त ही रहता है।

इन्हें अन्तराय कहा जाता है। इसलिये कि ये साधक की सिद्धि में अन्तर या भेद पैदा करते हैं, रुकावट डालते हैं। भगवान व्यासदेव जी इस सूत्र पर अपनी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्, स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। आलस्यं कायस्य चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्द्धः। भ्रान्तिदर्शनंविपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयते।

अर्थात् व्याधि उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और रसके बिगड़ने से शरीरमें विकलता होती है। स्त्यान उस विघ्नको कहते हैं जिससे चित्त कर्म रहित होने की इच्छा करता है। संशय उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी कहे यह ठीक है, कभी कहे दूसरा ठीक है। योग के साधन अर्थात् उपायों को चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते हैं जो शरीर या चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाता है। अविरति उस वृत्ति को कहते हैं जिसमें चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित या प्रलोभित कर देता है। विपरीत अर्थात् उल्टे ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। अलब्ध भूमिकत्व उसे कहते हैं जिससे समाधि की भूमि की प्राप्ती नहीं होती। अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्त की स्थिति नहीं होती। समाधिके प्राप्त होने पर चित्त स्थिर हो जाता है। यह संख्या में ९ चित्त-विक्षेप योग के अवरोधक हैं। योग के शत्रु यही योगान्तराय या योग के विघ्न कहलाते हैं।

चित्त के विक्षेप स्वयं योग के विघ्न नहीं है, किन्तु चित्तवृत्तियों के साथ मिलकर विघ्नकारक होते हैं और वृत्तियों के अभाव में बाधक नहीं हो सकते।

इन उपर्युक्त नौ अन्तरायों के उल्लेख के बाद महर्षि पतंजलिदेव ने इसी समाधि पाद के सूत्र संख्या ३१ में इनके सहभुव यानी सहकारी प्रतिबन्धकों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

अर्थात् दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पांच भी अन्तरायों के सहयोगी बनकर योगी के साधना-मार्ग में और अधिक रुकावट तथा बाधायें उपस्थित करने लगते हैं। इसलिये योग की भाषा में इन्हें विक्षेप-सहभुव की संज्ञा दी गई है।

इनके रूप का परिचय अधिक स्पष्टता से इस प्रकार समझा जा सकता है।

दुःख—उस पीड़ा अथवा वेदना को कहते

है जिनके उपस्थित होने पर मनुष्य उसका नाश करने के लिये प्रयत्नशील हो उठता है। यह दुःख आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन वर्गों में बँटा होता है।

दौर्मनस्य—उस मानसिक क्षोभ को कहते है जो मानसिक इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में कुभाव के रूप में बना रहता है।

अङ्गमेजयत्व—कहते है—शरीर अथवा शरीर के अंगों में कम्पन यानी कांपने के दोष के आ जाने को।

श्वास—बिना इच्छा के नासिका द्वारा बाहर के वायु के भीतर जाने को कहते हैं।

प्रश्वास—बिना इच्छा के नासिक द्वारा भीतर वायु को बाहर निकल आने को प्रश्वास कहा जाता है।

श्वास-प्रश्वास भी अमर्यादित होकर साधक के मार्ग में विघ्नकारक बन जाते हैं।

यह भी समझ लेने की जरूरत है कि ये अन्तराय और विक्षेप विक्षिप्त चित्त वालों पर ही अपना आक्रमण विशेष रूप से करते हैं। एकाग्र और दृढ़ चित्त वाले साधकों पर यह अपना कुप्रभाव नहीं डाल पाते। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक साधक को अपना चित्त सात्त्विक भावनाओं, शिव-संकल्पों और वैराग्य की धारणा तथा एकतत्त्व की उपासना-प्रणव जप, ईश्वर प्रणिधान जैसे मार्ग का अवलम्बन लेकर उसे दृढ़तर और निर्विकार बनाने का प्रयास करते रहना चाहिये। निरन्तर स्वाध्यायशील बने रहना भी अन्तराय और विक्षेपों से बचे रहने का एक अच्छा साधन हो सकता है।

भगवान पतञ्जलिदेव जी ने इन अन्तराय और उनके सहभुवोंसे बचे रहनेके लिये अथवा इनके प्रतिकार के लिये अपने योग-दर्शन के सूत्र संख्या ३२ में कहा है—

तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्त्वाभ्यासः

अर्थात् विघ्नोंके प्रतिषेध के लिये एक तत्त्वाभ्यास करना चाहिये। साधक जानना चाहेंगे कि एकतत्त्व क्या है और इसके अभ्यासकी जरूरत क्यों पड़ी ? योग-विशेषज्ञों के अनुसार पञ्चभूतों में से किसी भी एक मूल तत्त्व को ध्येय विषय बना कर निरन्तर उसका अभ्यास किया जा सकता है, किन्तु ये सभी तत्त्व परिणामी होने से चित्तको एकाग्रता और दृढ़ता प्रदान नहीं कर सकते। केवल प्रत्यक् आत्मा अथवा ईश्वर ही ऐसा एकमात्र तत्त्व है, जिसमें कभी कोई विकार या परिणाम नहीं होता, सदा एकदम अपरिणामी बना रहता है। इसलिये एकमात्र प्रणव जप अथवा ईश्वर प्रणिधान की प्रक्रिया ही ऐसे साधन हैं, जिनका आलम्बन ग्रहण करने से चित्त में एकाग्रता और स्थिरता एवं सात्त्विकता की गुण वृद्धि उत्तरोत्तर होकर समाधि सिद्धि की उपलब्धि की ओर साधक आगे बढ़ने लगता है।

अपने जीवन को दिव्य बनाइये

स्वामी श्री कृष्णानन्द

प्रत्येक मनुष्य के मन में सुख की इच्छा रहती है। वह सर्वत्र अपनी प्रतिष्ठा चाहता है। अधिकांश लोगों की लालसा यही रहती है कि वे समाज में अग्रगण्य बनकर रहें। पर होता है प्रायः उल्टा ही। सुख के बदले दुःख और मान के बदले अपमान ही मिलता है। धन और पद को पाकर मनुष्य अपने जीवन को महत्ता प्रकट करना चाहता है, पर यह है असम्भव है। धन से ही कोई महान् बनता होता तो डकैतों के पास भी धन तो है ही। पद तो दुष्ट राक्षसों को भी मिल जाता है। यदि वे अत्याचारी पुरुष चाहें तो सारे देव-समाज को दबाकर उनके सम्राट बन जायें। यह स्मरणीय बात है कि इन्द्रियोंकी लोलुपता, दुष्ट आचरण, निषिद्ध कार्य, हिंसा और असत्य के द्वारा सच्ची प्रतिष्ठा नहीं मिलती। अगर कहीं मिल भी जाय कुछ ही समय के लिए। इसके पश्चात् उन्हें नीचा ही देखना पड़ता है। आसुरी मानव का उत्थान हुआ ही कब है? विजय तो सदा देवताओं की ही होती आई है।

'यतो धर्मस्ततो जय'

आप चोरी करके चोरों के समाज, ठग बन करके ठगों के समाज में और पतित बन करके पतितों के समाज में सम्मान पा सकते हैं। पर सज्जन-समाज में तो आप अपने सिर

(पिछले पृष्ठ का शेष)

इन प्रतिबन्धकों को चित्त भूमि से दूर बहुत दूर भगा देने के लिए एक और उपाय भगवान पतंजलिदेव ने यह भी बताया है कि चित्त में अगर प्रसादगुण का प्राबल्य होगा तो भी विक्षेप मल तथा अन्य विघ्न-जिनका जिक्र ऊपर आ चुका है वे तथा राग-द्वेष आदि उसे अपना आलम्बन नहीं बना सकेंगे। भगवान पतंजलि देव जी कह रहे हैं--

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।

अर्थात् संसार के व्यवहारार्थ यदि साधक सुखी-दुःखी पुण्यात्मा और पापात्मा समझे जाने वाले व्यक्तियों के प्रति यथा क्रम, मित्रता दया, हर्ष और उपेक्षा का अनुष्ठान या बर्ताव करता रहेगा तो चित्त प्रसन्न और दोष तथा मल विक्षेप आदि से रहित बना रहेगा।

यदि योग-साधक योग-दर्शन के इन उपर्युक्त सूत्रों को ध्यान में रखकर अपने योग-पथ में बढ़ते रहेंगे तो अन्तराय, विक्षेप और मल उनकी प्रगति में कुछ भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकेंगे।

को भी ऊँचा उठा नहीं सकते। सर्वान्तर्यामी प्रभुजी के दरबार में आपकी चालाकी नहीं चल सकती। अन्ततोगत्वा आपका तो पतन ही निश्चित है। आज बड़े लोग उत्साह के साथ 'खाओ पीओ और मौज करो' की नीति का समर्थन कर रहे हैं। पर उन्हें यह पता नहीं है कि संसार में प्रकृति का अटल निश्चय है—'इस हाथ ले, उस हाथ दे।'

जो ठगता है वह स्वयं ठगा जाता है। जो लूटता है वह स्वयं लूटा जाता है। जो मारता है वह स्वयं मारा जाता है। फाँसी के बदले फाँसी ही वहाँ का प्राकृतिक नियम है। यह सब प्रत्यक्ष ही हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं कि लोग किस तरह बाध्य होकर अपने-अपने कर्मों के फल भोग रहे हैं। फिर भी हम अन्धे ही बने रहते हैं। क्यों नहीं, हमारी ज्ञान की आँखों में मोतियाबिन्द जो छा गया है।

देखत हू देखत नहीं, ऐसे है मतिमंद।
तुलसी या संसार में भयो मोतियाबिंद॥

यदि आप अपना कल्याण चाहते हैं तो आप शीघ्र ही अपने जीवन को दिव्य बना लीजिये। दैवी सम्पत्तियुक्त जीवन ही दिव्य जीवन है। जिसका जीवन दिव्य है, उसी को सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है। सफलता उसके पीछे रहती है और लक्ष्मी उसकी दासी बन जाती है।

दैवी सम्पत्ति के छब्बीस लक्षण श्री गीता जी के सोलहवें अध्याय में बताये गये हैं—निर्भयता, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान-योग में स्थिति, दान, इन्द्रिय-दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, दया, निर्लोभता, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि, अद्रोह, कोमलता, शास्त्र विरुद्ध कर्म करने में संकोच, अचपलता और मान का अभाव।

इन लक्षणों में 'अभय' शब्द को सर्वप्रथम रखकर भगवान ने यह बताया है कि जो डर-पोक हैं, वे इस दैवी-सम्पत्ति-मण्डल में प्रवेश नहीं कर सकते। निर्भीकता ही इसके लिये प्रवेशपत्र है। वास्तव में जो कामी तथा विषय-लोलुप होकर दिन-रात पाप-कर्मों में रत रहते हैं, वे ही अकारण भयभीत रहते हैं।

जे कामी लोलुप जग माहीं।
कुटिल काक इव सबहि डराहीं॥

बिना टिकट लिये कोई रेलगाड़ी में बैठ जाय तो उसे यही भय बना रहेगा कि कहीं टी० टी० ई० न इस डिब्बे में आ जाय। एक टी० टी० ई० ने मुझे बताया था कि बिना टिकट के यात्री के चेहरे को देखकर ही पता लग जाता है कि इसके पास टिकट नहीं है। सी० आई० डी० (खुफिया पुलिस) और पुलिस कर्मचारियों से पूछिये तो पता चलेगा कि वे चोरों और डकैतों के चेहरे को देखकर ही उन पर शंका कर बैठते हैं और उनको गिर-फ्तार कर लेते हैं।

अतः आप मन, कर्म और वचन से सच्चे

धारणा और ध्यान की साधना

● ब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी

मन को किसी एक देश में बांध देना ही 'धारणा' है। ध्यान में प्रवेश करने के लिये धारणाको दृढ़ करना इसके लिये आवश्यक है :

१—नित्य के अभ्यस्त आसन से एकान्त में बैठें।

२—धारणा और ध्यान आदि का स्थान नियत होना चाहिए।

३—स्थान साफ-सुथरा, धूएँ, दुर्गन्ध आदि से रहित तथा शीत तथा गर्मी से सुरक्षित हो और जहां शोरगुल, कोलाहल ही नहीं, शब्द भी कम से कम आते हों। जहां सर्प, बिच्छू, चींटी आदि के उपद्रव की सम्भावना न हो।

४—समय ब्रह्ममुहूर्त या कोई भी निस्तब्ध शान्त समय हो।

५—बैठकर इन्द्रियों और मन को सब ओर से हटा लें।

६—मन के निश्चल एवं स्थिर हो जाने पर नेत्रों को खोलकर, चाहे बन्द करके अन्दर की ओर, अन्दर के दिव्य नेत्रों से प्रकाश को देखने का यत्न करें।

नेत्र खोलकर अभ्यास करना सर्वोत्तम है—यदि नेत्र खोलकर अभ्यास कर रहे हैं, तब स्थूल इन्द्रियों से बाहर के विषयों को देखते हुए भी न देखकर अन्दर की ओर अन्तः दृष्टि को फेंककर प्रकाश को देखें। नेत्र खोल कर अन्तर्ध्यान की दृष्टि से देखने पर, नेत्र बन्द करके प्रकाश को देखने में जो एक भ्रान्ति, संशय हो जाया करता है, उसकी भी निवृत्ति हो जाया करती है। नेत्रों को बन्द करके प्रकाश को देखने पर कभी-कभी यह फुलझड़ी की तरह, कभी जुगनू की तरह, कभी सूर्य, चंद्र के समान उदय और अस्त हो जाता है। कभी बिजली सी भी चमक जाती है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि साधक साधना में जब अन्दर के सूक्ष्म नेत्रों से प्रकाश को देखना चाहता है उस समय मन सूक्ष्म नेत्रों से निकले हुए उस प्रकाश को ज्ञान तन्तुओं के साथ सम्पर्क कराता है और ये ज्ञान वाहक तन्तु उस प्रकाश को लेकर आगे बढ़ते हैं और स्थूल नेत्र के पटल पर प्रकाश को झलका देते हैं, टकराते

(पिछले पृष्ठ का शेष)

पुरुष बनिये तो संसार में कहीं आपको भय नहीं रहेगा। फिर सभी आपके अवैतनिक सेवक बनने में अपना गौरव समझेंगे। मान-प्रतिष्ठा आपके दास-दासी बनकर रहेंगे। आप जहां जायेंगे, वहां का वातावरण ही निर्भय और शान्त हो जायेगा और तो क्या, आप संसार के बंधन से मुक्त हो जायेंगे।

'दैवी सम्पद् विमोक्षाय'

यही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। स्वयं मुक्त होकर दूसरों को मुक्त कीजिये, यही सच्ची सेवा है।

—卐卐—

है। बाहर के नेत्र बन्द होते हैं इसलिये नेत्र पटल के साथ प्रकाश टकराकर फुलझड़ी के रूप में, जुगनू, दीप शिखा, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के रूप में प्रगट होने लगता है। साधक को भ्रान्ति हो जाती है कि वह मन-बुद्धि-इन्द्रियों के प्रकाश को देख रहा है। आँख खोलकर अभ्यास करने से यह भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती और यथा समय वास्तविक रूप में इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि के प्रकाश प्रत्यक्ष होते हैं। ऐसी भ्रान्तियों को दूर करने के लिये नेत्र खोल कर अभ्यास करना सर्वोत्तम है।

साधकों को आरम्भ काल में यह संशय हुआ करता है कि प्रकाश उत्पन्न नहीं हुआ। उन्हें समझ लेना चाहिए ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रकाश सदा अन्दर वर्तमान ही रहता है। यह प्रकाश मन, बुद्धि, इन्द्रियों और सूक्ष्म व कारण शरीरों का है। वे सदा शरीर में विद्यमान रहते हैं पर धारणा और ध्यान की स्थिरता न होने से वे दृष्टिगोचर नहीं होता। दृढ़ संकल्प कर उन्हें देखें अवश्य दिखाई देगा।

अभ्यास के समय कभी भी मस्तिष्क पर अधिक बल न डालें और अधिक गहरी या तीव्र दृष्टिसे प्रकाश को देखने का यत्न न करें, क्योंकि इससे मस्तिष्क में पीड़ा हो जाती है। मस्तिष्क थक जाता है, ज्ञानतन्तु शिथिल हो जाते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी बेकार भी हो जाते हैं। अतः शान्त, मधुर, कोमल सी ध्यान दृष्टि जमावें।

मस्तिष्क में थकावट हो जाने पर शान्त-भाव से बैठ जाया करें। केवल संकल्प-विकल्प का अभाव करते रहें। कोई विचार न उठे। इस प्रकार विश्राम लेने के पश्चात पुनः अभ्यास आरम्भ कर दें।

मन बह-जाय या उचाट खा जाय और यदि अड़ियल घोड़ेकी तरह प्रकाश की धारणा में न लगे, तब किसी मन्त्र या ओ३म् आदि को लेकर उसके एक-एक अक्षर को ध्यान की दृष्टि से लिखकर धारणा को परिपक्व करें।

यदि ध्यान से लिखने पर भी मन स्थिर न हो तो रेचक सहित बाह्य-कुम्भक और पूरक सहित आभ्यान्तर-कुम्भक का अभ्यास करें। भ्रामरी प्राणायाम के द्वारा मन को स्थिर करें, इसकी विधि 'योग-ग्रन्थों' में देखें।

ओंकार या किसी दिव्य महापुरुष, देवता आदि के चित्र को सामने तीन फुट के फासले पर नेत्रों के सामने दीवार पर टांग कर नेत्र खोलकर उस पर धारणा को परिपक्व करें। नेत्र थक जाने पर या पीड़ा होने पर नेत्र बन्द करके मस्तिष्क में उसका चित्रण करें। इस प्रकार धारणा परिपक्व होगी। जब वह मूर्ति ध्यान की दृष्टि से ओझल हो जाये, पुनः खोल कर देखें। इसी प्रकार पुनः अभ्यास करें।

भ्रूमध्य के प्रकाश को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जावें फिर उसे ध्यान का धक्का दे देकर लघु मस्तिष्क में ले जावें। फिर मेरुदण्ड की कशेरुकाओं को गिनते हुए सीढ़ियों पर से उतरने के ढंग पर, सीढ़ीके डण्डे से बनाकर प्रकाश को नीचे ले जावें अर्थात् मेरुदण्ड के अन्त में मूलाधार में ले जावें। (शेष पृष्ठ टाइटिल ३ पर)

मामेकं शरणम् व्रजः

— श्री कपिलदेव उपाध्याय,

भगवान श्रीकृष्ण की यह वाणी आज के मानवके लिये कल्पवृक्ष के समान है। कलियुग में मनुष्य अल्पायु है, उस पर भी सवेरे से शाम तक घर-गृहस्थी की चिन्ता में परेशान रहता है। सोचता भी है, मनुष्य जन्म अत्यन्त ही दुर्लभ है, बड़े भाग्य से मिलता है, अतः इसका सही रूप में उपयोग होना चाहिये। शास्त्रों ने बताया है कि पुरुषार्थ चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मनुष्य शरीर धारण करके जिसने इसको प्राप्त नहीं किया उसका जन्म व्यर्थ ही चला गया, ऐसा मानना चाहिए।

आज का मनुष्य चौराहे पर खड़ा है। अर्थ और मोक्ष में परस्पर विपरीत सम्बन्ध है। आज के युग में अर्थोपार्जन करने के लिये बहुत ही तरह के गलत तरीकों का उपयोग किया जाता है। प्राप्ती के पश्चात भी उसके रक्षण आदि के लिये अनुचित लोगों का सम्पर्क बराबर बना रहता है, जिससे मन में हमेशा तनाव तथा चित्त की चंचलता बनी रहती है, फिर चित्त की वृत्तियों को रोककर योग-परायण बन कर मोक्ष के लिये चेष्टा करें तो कैसे करें।

इसके अलावा परिवार वालों की समस्यायें है सिर्फ अपनी अकेली बात हो तो कैसे भी गुजारा हो जाय, लेकिन अपने पीछे तो उत्तरदायित्वों की एक लम्बी कतार खड़ी है। ऐसे समयमें भगवान का यह उद्घोष 'मामेकं शरणं व्रज:" कुछ अर्थ रखता है? भगवान श्रीकृष्ण की गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसके द्वारा चतुर्वर्ग पुरुषार्थ अर्जन किया जा सकता है। गीता मकरन्द श्री स्वामी विद्याप्रकाशानन्द से कुछ मन्त्रों का संकलन यह प्रमाणित करता है कि चतुर्वर्ग पुरुषार्थ के लिए गीता ही उपयोगी है।

(१) सन्द्गति की प्राप्ति के लिये निम्न श्लोक का जप करें :—

यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानं,
तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यम् च योगं च,
य: पश्यति स पश्यति ॥

—गीता ५/५

(२) भुत-प्रेत की बाधा होने पर—

स्थाने हृषिकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशोद्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघा ॥

अथवा

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं,
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

—गीता ११/३६-४०

(३) जीवन में बहुत तरह की बाधायें आती हैं, उन्हें दूर करने के लिये—

दिव्यमाल्याम्बरधरं,
दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देव,
मनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

—गीता ११/११

(४) भय दूर करने के लिये—

श्रद्धया परया तप्तं,
तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः,
सात्विकं परिचक्षते ॥

—गीता १७/१७

(५) मन की पवित्रता के लिए—

सर्वतः पाणिपादं,
तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके,
सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

—गीता १३/१३

(६) क्रोधकी शान्ति के लिये निम्न श्लोक का जाप करें—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

—गीता १५/१५

(७) ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने के लिये—

यत्र योगेश्वरः कृष्ण,
यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयोभूति
र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—गीता १८/७७

वा

यत्करोषि यदश्नासि,
यज्जुहोषि ददासि यतः ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

—गीता ९/२७

(८) सभी जगह ईश्वरानुभूति के लिए—

सर्वधर्मान्परित्यज्य,
मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—गीता १८/६६

वास्तव में गीता एक समुद्र है। इसमें कितने दुर्लभ रत्न छिपे हैं अंदाज नहीं लगाया जा सकता है। उस पर भी "हम बौरा डूबन डरा" जो किनारे बैठे हुए हैं उन रत्नोंके दर्शन के लिए गोताखोरों का ही भरोसा है। ●

महाभारत के आधार पर—

शिष्टाचार

श्री चन्द्रभानु गुप्ता

महाभारत के युद्ध में दोनों पक्ष की सेनायें युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं। इस प्रकार दोनों ओर की सेना को युद्ध के लिये तैयार खड़ी देख महाराज युधिष्ठिर अपने कवच और शस्त्रों को छोड़कर रथसे उतर पड़े और हाथ जोड़े हुए बड़ी तेजी से पूर्व की ओर जहाँ शत्रु की सेना खड़ी थी, पितामह भीष्म की ओर देखते हुए पैदल ही चल दिये। उन्हें इस प्रकार जाते हुए देख अर्जुन भी रथ से कूद पड़े और सब भाइयों के साथ उनके पीछे चल दिये। भगवान श्रीकृष्ण जी तथा दूसरे अन्य राजा भी बड़ी उत्सुकता से उनके पीछे हो लिए। तब अर्जुन ने कहा—राजन्! आपका क्या विचार है? आप हमें छोड़कर पैदल ही शत्रु की सेना में कहाँ जा रहे हैं? भीमसेन बोले—राजन्! शत्रु पक्ष के सैनिक कवच धारण किये युद्ध के लिए तैयार खड़े हैं। ऐसी स्थिति में आप भाइयों को छोड़कर तथा कवच और शस्त्र डालकर कहाँ जाना चाहते हैं? नकुल ने कहा—'महाराज! आप हमारे बड़े भाई हैं, आपके इस प्रकार जाने से हमारे हृदय में बड़ा भय हो रहा है। बताइये तो सही, आप कहाँ जायेंगे?' सहदेव ने पूछा—'राजन्! इस महा भयावनी रण स्थली में आ जाने पर अब आप हमें छोड़कर इन शत्रुओं की ओर कहाँ जा रहे हैं?'

भाइयों के इस प्रकार पूछने पर भी महाराज युधिष्ठर ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप चलते ही गये। तब चतुर चूड़ामणि घट-घट की जानने वाले श्रीकृष्ण ने हँसकर कहा—अब मैं इनका अभिप्राय समझ गया हूँ। ये अजेय भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य आदि सब गुरुजनों से आज्ञा लेकर शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे। मेरा ऐसा मत है कि जो पुरुष अपने गुरुजनों की आज्ञा लिए बिना ही उनसे युद्ध करता है, उसे वे स्पष्ट ही शाप दे देते हैं और जो शास्त्रानुसार उनका अभिवादन करके और उनसे आज्ञा लेकर संग्राम करता है, उसकी अवश्य ही विजय होती है।

इधर जब श्रीकृष्ण ऐसा कह रहे थे तो कौरवों की सेना में बड़ा कोलाहल होने लगा और कुछ लोग दंग से रहकर चुपचाप खड़े थे। दुर्योधन के सैनिकों ने राजा युधिष्ठिर को आते देखा तो वे आपस में कहने लगे, 'ओहो! यही कुलकलङ्क युधिष्ठिर! देखो, अब यह डरकर अपने भाइयों सहित शरण पाने की इच्छा से भीष्मजी के पास आ रहा है। अरे! इसकी पीठ पर तो अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव जैसे वीर हैं, फिर भी भय ने इसे कैसे दबा लिया। ऐसा कहकर फिर वे सैनिक

कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्न होकर अपनी ध्वजायें फहराने लगे। इस प्रकार युधिष्ठिर को धिक्कार कर वे सब वीर यह सुनने के लिये कि देखें, यह भीष्म जी से क्या कहता है और रण-बाँकुरे भीमसेन तथा कृष्ण और अर्जुन इस मामले में क्या बोलते हैं, चुप हो गये। इस समय महाराज युधिष्ठिर की इस चेष्टा से दोनों ही पक्षों की सेनायें बड़े सन्देह में पड़ गयीं।

महाराज युधिष्ठिर शत्रुओं की सेना के बीच में होकर भीष्म जी के पास पहुँचे और दोनों हाथों से उनके चरण पकड़कर कहने लगे, 'अजेय पितामह! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मुझे आपसे युद्ध करना होगा। आप मुझे आज्ञा दीजिये और साथ ही आशीर्वाद देने की कृपा भी कीजिये।'

भीष्म ने कहा—युधिष्ठिर! यदि इस समय तुम मेरे पास न आते तो मैं तुम्हारी पराजय के लिए तुम्हें शाप दे देता, किन्तु अब मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। तुम युद्ध करो तुम्हारी जय होगी और इस युद्ध में तुम्हारी और सब इच्छायें भी पूरी होंगी। इसके सिवा तुम्हें कोई वर मांगने की इच्छा हो तो मांग लो, क्योंकि ऐसा होने पर फिर तुम्हारी पराजय नहीं हो सकेगी। राजन्! यह पुरुष अर्थ का दास है। अर्थ किसी का भी दास नहीं है—यही सत्य है और इस अर्थ से ही कौरवोंने मुझे बाँध रखा है। इसीसे मैं तुम्हारे साथ नपुंसकों की सी बातें कर रहा हूँ। बेटा! युद्ध तो मुझे कौरवों की ओर से ही करना पड़ेगा। हाँ, इसके सिवा तुम और जो कुछ कहना चाहो, कहो।

युधिष्ठिर ने कहा—दादा जी! आपको तो कोई जीत नहीं सकता। इसलिए यदि आप हमारा हित चाहते हैं तो बतलाइये कि हम आपको युद्ध में कैसे जीत सकेंगे?

भीष्म बोले—कुन्तीनन्दन! संग्राम भूमि में युद्ध करते समय मुझे जीत सके, ऐसा तो मुझे कोई दिखाई नहीं देता। अन्य पुरुष तो क्या स्वयं इन्द्र की भी शक्ति नहीं है। इसके सिवा मेरी मृत्यु का भी कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिए तुम किसी दूसरे समय मुझ से मिलना।

तब महाबाहु युधिष्ठिर ने भीष्म जी की यह बात सिर पर धारण की और उन्हें फिर प्रणाम कर वे आचार्य द्रोण के रथ की ओर चले। उन्होंने आचार्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और फिर अपने कल्याण के लिए कहा, भगवन्! मुझे आपसे युद्ध करना होगा। मैं इसके लिये आप से आज्ञा चाहता हूँ जिस से मुझे कोई पाप न लगे। आप यह भी बताने की कृपा करें कि मैं शत्रुओं को किस प्रकार जीत सकूँगा?

द्रोणाचार्य ने कहा—राजन्! यदि तुम युद्ध का निश्चय करके फिर पास न आते तो

मैं तुम्हारी पराजय के लिए शाप दे देता। किन्तु तुम्हारे इस सम्मान से मैं प्रसन्न हूँ। तुम युद्ध करो तुम्हारी जय होगी। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। बताओ तुम क्या चाहते हो? इस स्थिति में अपनी ओर से युद्ध करने के सिवा तुम्हारी और जो भी इच्छा हो कहो, क्योंकि पुरुष अर्थ का दास है। अर्थ किसीका दास नहीं है—यही सत्य है और इस अर्थ से ही कौरवों ने मुझे बाँध लिया है। इसी से मैं नपुंसक की तरह तुमसे कह रहा हूँ कि तुम अपनी ओर से युद्ध करने के सिवा और क्या चाहते हो। मैं युद्ध तो कौरवों की ओर से करूँगा तो भी विजय तुम्हारी ही चाहता हूँ।

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! आप कौरवों की तरफ से ही युद्ध करो। किन्तु मैं यही वर माँगता हूँ कि मेरी विजय चाहें और उपयोगी परामर्श दें।

द्रोणाचार्य बोले—राजन्! तुम्हारे सलाहकार स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण हैं। इसलिये तुम्हारी विजय तो निश्चित है। मैं तुम्हें युद्ध के लिए आज्ञा देता हूँ। तुम रणांगण में शत्रुओं का संहार करोगे। जहाँ धर्म रहता है, वहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं वहीं जय रहती है। कुन्तीनन्दन! अब तुम जाओ, युद्ध करो और तुम्हें जो कुछ पूछना हो पूछो, मैं तुम्हें क्या सलाह दूँ?

युधिष्ठिर ने पूछा—आचार्य! आपको प्रणाम करके मैं यही पूछना चाहता हूँ कि आपके वध का क्या उपाय है?

द्रोणाचार्य बोले—राजन्! संग्राम भूमि में रथ पर आरूढ़ हो जब मैं क्रोध में भरकर बाणों की वर्षा करूँगा, उस समय मुझे मार सके—ऐसा तो कोई शत्रु दिखाई नहीं देता। हाँ, जब मैं शस्त्र छोड़कर अचेत सा खड़ा रहूँ उस समय कोई योद्धा मुझे मार सकता है—यह मैं सच-सच कहता हूँ। एक सच्ची बात बताता हूँ कि जब किसी विश्वासपात्र व्यक्ति के मुखसे मुझे कोई अत्यन्त अप्रिय बात सुनाई देती है तो मैं संग्राम-भूमि में शस्त्र त्याग देता हूँ।

द्रोणाचार्यजी की यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी आज्ञा ले आचार्य कृप के पास आये और उन्हें प्रणाम एवं प्रदक्षिणा करके कहने लगे। गुरुजी! मुझे आपसे युद्ध करना होगा। इसके लिए मैं आपसे आज्ञा माँगता हूँ, जिससे मुझे कोई पाप न लगे। इसके सिवा आपकी आज्ञा होने पर मैं शत्रुओं को भी जीत सकूँगा।

कृपाचार्य ने कहा—राजन्! युद्ध का निश्चय होने पर यदि तुम मेरे पास न आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है। यही सत्य है और इस अर्थ से ही कौरवों ने मुझे बाँध रखा है, सो युद्ध तो मुझे उन्हीं की ओर से करना पड़ेगा, ऐसा मेरा निश्चय है। इसीसे नपुंसक

की तरह मुझे यह कहना पड़ता है कि अपनी ओर से युद्ध करने के लिये कहने के सिवा और तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर मांग लो।

युधिष्ठिर ने कहा—आचार्य! सुनिये, इसी से मैं आपसे पूछता हूँ ......।

इतना कहकर धर्मराज व्यथित होकर अचेत से हो गये और कोई शब्द न बोल सके। तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य जी ने कहा—'राजन्! मुझे कोई भी मार नहीं सकता। किन्तु कोई चिन्ता नहीं, तुम युद्ध करो, जीत तुम्हारी ही होगी। तुम्हारे इस समय आने से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं नित्य प्रति उठकर तुम्हारी विजय कामना करूँगा— यह मैं तुमसे ठीक-ठीक कहता हूँ।'

कृपाचार्य की बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी आज्ञा लेकर मद्रराज शल्य के पास गये तथा उन्हें प्रणाम और प्रदक्षिणा करके अपने हित के लिए उनसे कहा, 'राजन्! मुझे आपके साथ युद्ध करना है। इसके लिए मैं आपसे आज्ञा माँगता हूँ, जिससे मुझे कोई पाप न लगे तथा आपकी आज्ञा होने पर मैं शत्रुओंको भी जीत सकूँगा।

शल्य ने कहा—राजन्! युद्ध का निश्चय कर लेने पर यदि तुम मेरे पास न आते तो मैं पराजय के लिए तुम्हें शाप दे देता। इस समय आकर तुमने मेरा सम्मान किया है, इसलिए मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो, जय तुम्हारी ही होगी। तुम्हारी और कोई अभिलाषा हो तो मुझसे कहो। पुरुष अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है—यही बात सत्य है और इस अर्थ से ही कौरवों ने मुझे बांध लिया है। इसीसे मुझे नपुंसक की तरह से पूछना पड़ता है कि अपनी ओर युद्ध कराने के सिवा तुम और क्या चाहते हो। तुम मेरे भानजे हो। तुम्हारी जो इच्छा होगी, वह मैं पूर्ण करूँगा।

युधिष्ठिर ने कहा—मामा जी! मैंने सैन्य संग्रह का उद्योग करते समय आपसे जो प्रार्थना की थी, वही मेरा वर है। कर्ण से हमारा युद्ध होते समय आप इसके तेज का नाश करते रहें।

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन! तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण होगी। जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो। मैं तुम्हारी जीत पूरी करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

इस प्रकार शिष्ट व्यवहार से महाराज युधिष्ठिर ने अजेय पितामह भीष्म, महान् धनुर्धर द्रोणाचार्य, आचार्य कृप एवं शल्य को सरलता से पराजित कर दिया।

—सलोन (रायबरेली)

स्वस्ति पंथा मनु चरेम

श्री गुरु नानकदेव

❀ तपोमूर्ति ब्रह्मचारी श्री प्रभुदत्त जी

संसार में लोगों पर जो शासन करते हैं, वे राजा कहलाते हैं। वे कायदे और नियमों के अनुसार लोगों पर शासन करते हैं। उनके यहाँ सेना, अस्त्र, नौकर चाकर, हाकिम हुक्काम आदि सभी शासन की उपयुक्त सामग्रियाँ होती हैं। उनके हाथ में दण्ड होता है, जो उनकी आज्ञा के विरुद्ध चलता है, उसे वे दण्ड विधान के अनुसार उपयुक्त दण्ड देते हैं, इस कारण हृदय से इच्छा न रहने पर भी लोगों को उनकी बातें माननी पड़ती हैं। ऐसे राजाओं का आधिपत्य उनके जीवन काल तक ही रहता है। किसी-किसी को तो अपने जीवन में ही नीचा देखना पड़ता है। इन शासकों की मृत्यु के पश्चात् अथवा पदच्युत होने के अनन्तर फिर इन्हें कोई नहीं पूछता कारण कि लोगों पर इनका यथार्थ आधिपत्य नहीं था, लोग हृदय से इनकी बातों को नहीं मानते थे, किन्तु दण्ड के भय से उन्हें मानने के लिये विवश होना पड़ता था।

इन राजाओं के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के भी राजा होते हैं। उनके पास फौज नहीं रहती, कोष नहीं रहता। उनके अच्छे महल और दरबार भी नहीं होते, यहाँ तक कि उनके पास अपने खाने के लिये भी दो मुट्ठी अन्न इकट्ठा नहीं रहता। फिर भी असंख्यों पुरुष उनकी आज्ञाओं को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ मानते हैं। उनके हाथ में दण्ड-विधान भी नहीं होता, किन्तु उनके प्रेम-विधान के सामने बड़े-से-बड़े पुरुष हर समय हाथ बाँधे उनकी आज्ञा में खड़े रहते हैं। यह बात भी नहीं कि इनकी उपस्थिति में ही लोग इनका इस प्रकार से आदर करते हों, किन्तु इनके संसार से चले जाने के पश्चात् भी लोगों के हृदयों पर इनका शासन ज्यों का त्यों ही बना रहता है। लोग इनके वाक्यों को ईश्वरीय वाक्य मानते हैं और उनके अनुसार बर्ताव करने की भी सदा चेष्टा करते रहते हैं। गुरुनानकदेव उन्हीं पारलौकिक महाराजाओं में से एक महाराज हो चुके हैं। उन्हें इस संसार को त्यागे आज चार सौ वर्ष के लगभग होते होंगे, किन्तु साधारणतया सम्पूर्ण संसार पर और विशेष कर पंजाब प्रान्त पर उनका शासन अभी तक अक्षुण्ण रीति से बना हुआ है, और आगे भी सदा इसी प्रकार बना रहेगा।

वंश-परिचय और जन्म—पंजाब प्रान्त के लाहौर जिले में तलवंडी नामक का एक छोटा सा ग्राम था। उसमें कल्याणचन्द नाम का एक बेदी खत्री निवास करता था। उसकी

भाग्यवती भार्या का नाम तृप्ता था। सम्वत् १५२६ विक्रमी की कार्तिक पूर्णिमा के दिन परम भाग्यशाली कल्याणचन्द्र के पुण्यवती तृप्ता के गर्भ से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। आगे चलकर वही बालक एक सिद्ध महात्मा हुआ जो संसार में नानकदेव के नामसे विख्यात हुआ।

बाल्यकाल—बालकपन से ही इनके स्वभाव में स्वतन्त्रता थी, भगवद्भक्ति अनेक जन्मों की जमी हुई थी, ज्यों-ज्यों इनकी अवस्था बढ़ने लगी, त्यों-त्यों भीतर की जमी हुई भक्ति भी निकल कर बाहर प्रकट होने लगी। ये एक साल की ही अवस्था में खड़े होने लगे, पांच वर्ष की अवस्था में इन्हें बुरे भले का ज्ञान होने लगा। साधारणरीत्या भी बैठते तो ये पद्मासन लगाकर ही बैठते। बालकों से बातें करते तो वही परमात्मा सम्बन्धी। खेल भी खेलते तो वही भगवत्चरित्र, सारांश किसी भी कार्य करते सब आदर्श और भक्तिपूर्ण ही होते थे।

उपयुक्त अवस्था होने पर ये हिन्दी, संस्कृत तथा फारसी पढ़ने के लिये क्रमशः पाधा, पण्डित और मौलवी के पास भेजे गये, किन्तु इन्हें पढ़ना क्या था? ये तो जाने कितने जन्मों के पढ़े हुए आये थे। इन्होंने किसी को भी कुछ पढ़कर न दिया। उल्टे वे लोग ही इनके शिष्य बन गये। जब पिता ने देखा कि यह लड़का तो पढ़ने लिखने योग्य नहीं है, तब उन्होंने इन्हें गाय भैंस चराने का काम सौंपा, परन्तु जिसने पाठशाला में बैठकर एक अक्षर पढ़कर नहीं दिया, वह भला गाय भैंसों के पीछे लाठी लिये कब घूमने लगा? घर से तो ये भैंस चराने जाते, किन्तु जंगल में जाकर किसी एकान्त वृक्ष के नीचे आसन लगाकर आत्मचिन्तन में मस्त हो जाते। गाय, भैंस फिर किसी के खेत को क्यों न खाती रहें, इन्हें कुछ भी ध्यान न रहता। अब इनके पिता को यह बात मालूम हुई कि यह इस काम के भी अयोग्य है, तब उन्होंने इनसे कुछ व्यापार कराना चाहा।

एक दिन पिता ने इन्हें कुछ रुपए दिए और कहा—"बेटा! इन रुपयों को ले जाओ और इनसे खूब अच्छा सच्चा रोजगार करना।" यह कहकर उन्होंने बाला नामक एक भृत्य को इनके साथ कर दिया। ये रुपयों को लेकर लाहौर की ओर चले। रास्ते में इन्हें कुछ भूखे साधु मिले। इन्होंने सोचा—"इससे और सच्चा सौदा क्या होगा?" यह सोचकर इन्होंने सभी रुपए लुटा दिये और खाली हाथों लौटकर घर चले आये। इस बात से इनके पिताजी बहुत अधिक क्रुद्ध हुए।

योग क्षेम के निमित्त वृत्ति—जब इनके पिता ने देखा कि यह तो कुछ भी काम नहीं करता, बिना कुछ काम किये गृहस्थी का

काम कैसे चलेगा। यह सोचकर उन्होंने अपनी बड़ी लड़की नानकी के पास इन्हें सुलतानपुर में भेज दिया। सुलतानपुर में इनके बहनोई जैराम वहाँ के नवाब के दीवान थे, उन्होंने इन्हें नवाब के भण्डार में मोदी के काम पर लगा दिया। कहते हैं कि ये बहुत-सा सामान वैसे ही साधुओं को बाँट देते थे और तौलते समय कहते जाते थे—"सब तेरा है तेरा।" लोगों ने जब इस बात की शिकायत नवाब से की तब उसने भण्डार की जाँच करायी, परन्तु सामान सब ठीक निकला। इस प्रकार कई बार जाँच होने पर भी ये दोषी साबित नहीं हुये। इसी तरह ये १०-१२ वर्ष तक नवाब के भण्डारी का काम करते रहे।

पारिवारिक जीवन—सं० १५४५ में १९ वर्ष की अवस्था होने पर इनका विवाह गुरुदासपुर जिला के मूलचन्द खत्री की सुलक्षणी नामक कन्या के साथ हुआ। ये विवाह के पश्चात् भी सुलतानपुर में ही रहे और नवाब के भण्डार में बराबर काम करते रहे। इनके वहीं पर दो पुत्र भी हुए। बड़े पुत्र का जन्म सं० १५५१ में हुआ। इनका नाम श्रीचन्द रखा गया। आगे चलकर ये बड़े विरक्त महात्मा हुये, जिन्होंने उदासी सम्प्रदाय चलाया। उदासी सम्प्रदाय के ये ही मूल पुरुष है। दूसरे पुत्र का जन्म १५५३ में हुआ। इनका नाम लक्ष्मीचन्द रखा गया। इनका आचरण कुछ विशेष अच्छा नहीं था। इनके वंशज अभी तक विद्यमान है।

नानकदेव की धर्मपत्नी यथा नाम तथा गुण वाली नारी थी। नानक जी यद्यपि देखने के लिये तो गृहस्थियों की भाँति रहते थे। किन्तु इनके भीतर सदा वैराग्य की ज्योति जलती रहती थी। गृहस्थी में रहते हुये भी ये सदा अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों को बड़ी ही सावधानी के साथ करते रहते थे।

वैराग्य और तीर्थाटन—जब इनकी अवस्था २८-२९ वर्ष की हुई, तब इन्हें गृहस्थ का झंझट एकदम भार मालूम पड़ने लगा। इन्होंने गृहस्थ को छोड़कर साधु वेश धारण करने का पक्का निश्चय कर लिया। थोड़े ही दिनों में इन्होंने अपने विचार को कार्य रूप में परिणत किया और अपनी प्यारी पत्नी को, दुधमुहे बच्चों को ईश्वर के आश्रय पर छोड़कर परिवार वालों से सांसारिक नाता तोड़कर इन्होंने साधु वेश धारण कर लिया। विरक्त होने पर इन्होंने भ्रमण करना आरम्भ किया। चलते समय इन्होंने बाला और मरदाना नामक दो आदमियों को भी अपने साथ ले लिया। मरदाना जाति का मीरासी था, वह नानक जी में पहले से ही बड़ी भक्ति रखता था, और उनके बनाये हुये भजनों को इकतारा पर बड़े स्वर से गाया करता था।

सबसे पहले इन्होंने पूर्व की यात्रा की। पंजाब के अनेक शहरों में होते हुए ये दिल्ली आये। दिल्ली से ये अलीगढ़ होते हुए मथुरा,

वृन्दावन, गोकुल आदि ब्रज के मुख्य स्थानों में घूम फिर कर आप आगरे पहुँचे और वहां कुछ काल विश्राम किया। आगरे से कानपुर लखनऊ, अयोध्या को होते हुए काशी जी पहुँचे। वहां पर कुछ काल रहकर साधु महात्मा तथा पण्डितों से सत्सङ्ग करते रहे। काशी से इन्होंने गङ्गाजी के किनारे-ही-किनारे पैदल यात्रा की। बिहार के मुख्य-मुख्य नगरों में घूमते हुए ये गयाजी पहुँचे। गया से बंगाल के बहुत से नगरों में होते हुए ये कलकत्ते पहुँचे। वहां से बालेश्वर, मेदिनीपुर आदि शहरों को पवित्र करते हुए जगन्नाथ जी पहुँचे इस प्रकार जगन्नाथ जी का दर्शन करके इन्होंने पूर्व की यात्रा समाप्त की और फिर पंजाब ही लौटकर चले आये।

पूर्व की यात्रा समाप्त करके इन्होंने दक्षिण की यात्रा की। दक्षिण में इन्होंने श्रीरामेश्वर धाम तक की यात्रा की और वहां से समुद्र पार करके सिंहल द्वीप में भी गये। वहां का राजा शिवनाभ इनका शिष्य हो गया। उसी के लिए इन्होंने "प्राणसंगली" नाम की योग सम्बन्धी पुस्तक बनायी। दक्षिण की यात्रा करके फिर वे सुलतानपुर ही लौट आये और वहां आकर कर्तारपुर में एक धर्मशाला बनाई। धर्मशाला बन जाने पर अपने परिवार के लोगों को भी इन्होंने यहीं बुला लिया।

दक्षिण की यात्रा के बाद फिर उत्तर की यात्रा का नम्बर आया। उत्तर के सभी तीर्थों की इन्होंने यात्रा की। बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, जमनोत्री, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि सभी पहाड़ी स्थानों में घूमते फिरते। ये नेपाल और भूटान तक गये। वहां से लौटकर फिर ये कर्तारपुर ही आ गये।

तीनों धामों की यात्रा तो इन्होंने करली अब पश्चिम का एक ही धाम शेष रह गया। इसलिए अब इन्होंने पश्चिम दिशा की यात्रा की। पश्चिम में ये गुजरात गये और वहां से डेराइस्माइलखाँ, रामपुर, सिकारपुर होते हुए सिन्ध और बलोची की सैर करते हुए बिलोचिस्तान में पहुँचे। वहां से मक्का, मदीना आदि मुसलमानों के तीर्थों के दर्शन करते हुए अन्त में कर्तारपुर ही आ गये। इस प्रकार लगभग २४ वर्षों में इन्होंने चारों धामों की यात्रा की।

चारों धामों की यात्रा करके इन्होंने कर्तारपुर में ही अपना आसन जमा दिया और वहीं स्थायी रूप से रहकर, भक्तों को शिक्षा तथा उपदेश देने लगे। इनके उपदेशों में बड़ा आकर्षण था, जो एक बार भी इनके उपदेशों को श्रद्धा भक्तिपूर्वक सुन लेता, वह सदा के लिए इनका दास बन जाता। ये अपने शिष्यों को सिक्ख कहा करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे इनके बहुत से सिक्ख हो गये, जो कि सदा इनकी सेवा में तत्पर रहते और ये जो भी आज्ञा दे देते उसका तत्काल ही पालन करते। इस प्रकार से लोगों को श्रद्धा और भक्ति का प्रसाद वितरण करते हुए सुखपूर्वक अन्त तक कर्तारपुर में ही रहे।

नश्वर-प्राणी

श्री शिवदत्तजी झा

अरे काल के कवल अरे ओ पल-पल में काँप उठने वाले।
अरे बुलबुले भवसागर के देख नाश के बादल काले॥
नियति-नेमिका चक्र सनातन चलता ही रहता है प्रतिपल।
क्या तू रोक सकेगा इसको ? है तुझमें भी क्या इतना बल ?
चला थाहने इस असीम सागर को लेकर लघु तन-तरनी।
पर न पार कर सका अभी तक इस जीवन की भी वैतरनी॥
बचा-बचा कर ले चल नौका लहरें उठती हैं तूफानी।
अरे पता तो लगा कहां से, इसमें बढ़ता जाता पानी॥
यौवन के वसंत से विकसित जब तक रहा सुमन-सा चोला।
अरे अभागे कभी न तब-तक राम-नाम तू मुख से बोला॥
हुआ चार नरके कंधों पर चला सत्यता सिखलाने को।
स्वासहीन केवल मिट्टी में राम-नाम को कहलाने को॥
अरे रूप पै मरने वाले, क्यों न हो रहा अब मतवाला।
क्या स्वर्ण-सी है न सुन्दरी, देख चितानल की वह ज्वाला॥
लाल और नीलम से निर्मित अरे देख उद्दाम शिखाएँ।
चाह रहीं तेरा आलिंगन रूप-गर्विता श्मशान चिताएँ॥

यह संसार महासागर है, हम मानव हैं तिनके।
सखे भाग्य का फेर मिल गये, कौन यहां है किनके॥

—अंचल

गीता और निष्काम कर्म

❀ श्री शालिगराम शर्मा एम० ए०

[निष्काम कर्म की उपयोगिता के साथ लेखक ने प्रस्तुत लेख में 'क्या निष्काम कर्म सम्भव है ?' प्रश्न का भी विश्लेषणात्मक उत्तर दिया है। लेख व्यवहार की दृष्टि से लिखा गया है। लेखक श्री शर्मा सिद्धयोग के सुपरिचित लेखिका श्रीमती सरिता भारद्वाज के पिता तथा आश्रम परिवार के हितचिंतकों में से थे। उनका स्वर्गवास कुछ वर्ष पूर्व ही हो गया है। उनकी अमर-विचार सम्पदा के रूपमें पाठकों को लेख में उपयोगी सामग्री मिलेगी।]

—सम्पादक

गीता की जिस चीज ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, वह है उसका निष्काम कर्म। अधिकांश लोग गीता के इस निष्काम कर्म की प्रशंसा तो करते हैं पर वे उसके महत्व पर विचार नहीं करते। आइये, गीता के निष्काम कर्म पर थोड़ा सा विचार करें। जिस समय कुरुक्षेत्र के मैदान में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम का उपदेश दिया था उस समय भारतवर्ष में दो विरोधी विचारधाराओं के दार्शनिक अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। एक ओर कर्म की प्रधानता थी। अपने लाभ के लिए—अपने स्वार्थ के लिए सभी कुछ करना चाहिए। ऐसे लोगों का लक्ष्य था अपनी वासनाओं और आकांक्षाओं की तृप्ति। कुछ लोग भौतिक सुखोपभोग को ही अपना लक्ष्य मानते थे तो कुछ लोग स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से ही दिन रात यज्ञ किया करते थे। पर दोनों ही प्रकार के लोगों के कर्म सकाम होते थे। इसके साथ ही साथ कुछ ऐसे दार्शनिक भी थे जिन्होंने संसार में स्वार्थ, बेईमानी, असत्य, छल-कपट और धोखा ही देखा। ऐसे दार्शनिकों को संसार से वैराग्य हो गया और वह इतना दृढ़ हो गया कि वे जन-समाज का सम्पर्क त्याग कर जंगलों में या पर्वतों की कन्दराओं में शांत और एकान्त जीवन व्यतीत करने लगे। साधारण जनता इस समय बड़ी ही परेशान थी। दो मार्ग थे—(१) प्रवृत्ति और (२) निवृत्ति। संसार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए कर्म करो या संसार को मिथ्या और स्वप्नवत् समझकर कर्म करना छोड़ दो और नित्य प्रति आत्मा में ही रमण करो। किस मार्ग को अपनाया जाय ? बड़ी दुविधा थी। ऐसे ही समय भगवान श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुए, जिन्होंने समस्या का सन्तोषजनक हल किया—लोगों की मानसिक उलझन को दूर कर दिया। उन्होंने न तो ज्ञान मार्गका विरोध किया और न कर्म मार्ग को ही बुरा कहा। उन्होंने तो यही कहा कि खूब कर्म करो लेकिन कामना का त्याग करके करो। इस ज्ञान के साथ कर्म करो कि संसार में सब कुछ प्रकृति का खेल है। आत्मा में कर्तृत्व का भान न होना ही सच्चा ज्ञान है। जब हमें इस बात का अनुभव हो जायगा तो फिर कर्मों में हमारी

वासना नहीं रहेगी। पर इसका अर्थ यह नहीं कि कर्म बन्द हो जायेंगे। कर्म होंगे और पहले से भी अधिक। पर हां कामना न होगी। फल प्राप्ति की इच्छा न होगी। ऐसे ही कर्म को गीताकार ने निष्काम कर्म कहा है। यहां पर हम देखते है कि युक्त ज्ञान और कर्म में कितना सुन्दर समन्वय हुआ है। निष्काम कर्म का अर्थ है ज्ञानपूर्वक कर्म।

जब गीता हमसे निष्काम कर्म करने को कहती है तो दो प्रश्न मन में पैदा होते हैं। (१) हम निष्काम कर्म क्यों करें। (२) क्या निष्काम कर्म करना सम्भव भी है? ये दोनों ही प्रश्न बड़े महत्व के हैं। हम उन पर क्रमसे विचार करेंगे।

कर्म दो ही प्रकार के हो सकते हैं। (१) सकाम कर्म और (२) निष्काम कर्म। सकाम कर्म के भी दो विभाग किये जा सकते हैं—(१) वे कर्म जिनमें हमें असफलता मिले और (२) वे कर्म जिनमें हमें सफलता प्राप्त हो। जिस काम के करने में सफलता नहीं मिलती, वह काम हमें कभी सुख नहीं पहुँचा सकता। स्मरणमात्र से ही दुःख होने लगता है। इच्छा होती है कि कोई हमें उसकी याद न दिलाये। जिस काम के करने में हमें सफलता मिल जाती है उस पर भी थोड़ा सा विचार कीजिये अनुभव यह बताता है कि सफलता मिलने से पहले हम यह समझते हैं कि सफलता मिलने के पश्चात् आनन्द मिलेगा, ऐसा आनन्द मिलेगा जो कभी कम न होगा। पर होता बिल्कुल आशा के विपरीत ही है। सफलता मिलने के बाद प्रसन्नता, सुख या आनन्द न मालूम कहां चले जाते हैं। एक विद्यार्थी का उदाहरण ले लीजिये। साल भर वह खूब परिश्रम करता है। वह समझता है कि जिस दिन वह अपने को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण सुनेगा उसे बड़ी प्रसन्नता होगी। उसे केवल एक ही चीज की चिन्ता रहती है वह है प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना। उसका ख्याल है कि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बाद संसार में उसे चिन्तित बनाने वाली कोई चीज नहीं रहेगी। पर वास्तविकता क्या है? विद्यार्थी को कितना बड़ा अज्ञान है। परीक्षा फल की सफलता उसे कितने दिन आनन्द दे सकती है। यह बात सभी लोग जो विद्यार्थी रहे हैं, अच्छी तरह जानते हैं। सफलता मिलने के बाद भी जब हमें आनन्द नहीं मिलता तो हमारे कुछ भावुक साथी खीझकर कहने लगते हैं—"Expectation is better than realisation;" अर्थात् फल की प्राप्ति से अधिक आनन्द उसकी प्रतीक्षा में होता है पर प्रतीक्षा में भी कितना आनन्द होता है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार हमने देखा कि कामनाके वशीभूत होकर जब हम कर्म करते हैं तो हमें न तो वे ही कर्म आनन्द पहुँचाते हैं जिनमें सफलता नहीं मिलती और न वे ही कर्म

आनन्द पहुँचा पाते हैं जिनमें सफलता मिल जाती है। किसी तीसरे प्रकार सकाम कर्म की कल्पना भी नहीं कर सकते और अब सकाम कर्म से हमें सच्चा आनन्द या सुख नहीं मिलता जो कि हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य है—तो फिर विवश होकर हमें यह कहना पड़ेगा कि या तो कर्म में सुख की कल्पना करना पागलपन है या निष्काम कर्म में ही सुख है। अगर थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि कर्म करने से सुख नहीं मिल सकता तो क्या कर्म न करने से सुख मिलेगा। कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात को नहीं मान सकता।

कर्म करने से सुख नहीं मिल सकता। यह बात भी नहीं मानी जा सकती। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध पड़ती है। इस संसार में कुछ ऐसे लोगों को देखते हैं जो निरन्तर कर्म करते हुए भी प्रसन्न रहते हैं। उनके चेहरे पर हर समय मुस्कान रहती है। बड़ी-से-बड़ी विपत्तिभी उनकी प्रसन्नतामें कमी नहीं लासकती है। मौका पड़ने पर वे लोग हँसते-हँसते प्राण तक त्याग देते हैं। मृत्यु के समय वे अगर कुछ कहते भी हैं तो केवल इतना ही "परमात्मा हमें क्षमा कर देना, क्योंकि हम नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं।" जब हमें संसार में सुखी लोग मिलते हैं तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि संसार में सुख है ही नहीं।

इस प्रकार हमें विवश होकर यह कहना पड़ता है कि अगर मनुष्यको सुख प्राप्त करना है तो उसे निष्काम कर्म का ही अभ्यास करना पड़ेगा जिसका कि भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है।

अब हम दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हैं 'क्या निष्काम कर्म संभव है ?' हमने ऊपर कार्य का जो विश्लेषण किया है उसमें इस प्रकार का उत्तर भी आ जाता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि संसार में सुख और आनन्द मिल सकता है। इसके साथ ही साथ यह भी समझ गये कि यह सुख या आनन्द सकाम कार्य में कदापि नहीं मिल सकता। शुद्ध निष्काम कर्म में स्थायी आनन्द देने की शक्ति है। अतः हमें यह कहना पड़ेगा कि निष्काम कार्य करके ही लोग सुखी हो सकते हैं। जब निष्काम कर्म करके लोग सुखी हो सकते हैं तो यह भी कहना चाहिए कि निष्काम कर्म करना सम्भव है।

ऐसे समय साधारण साधक का मन चंचल हो उठता है। वह समझने लगता है कि संसार में निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति कोई नहीं है। यहीं पर साधकसे एक बड़ी भूल हो जाती है। अगर कोई व्यक्ति अपने को धर्मात्मा बताये और धर्म के अनुकूल आचरण न करे तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि धर्मात्मा होना बुरा है। उसी प्रकार निष्काम कर्म करने का दम्भ करना दो भिन्न वस्तु हैं।

(शेष पृष्ठ २५ पर पढ़ें)

卐 दानवीर कर्ण 卐

श्री पं० कृष्णकुमार पाण्डेय

पुराणों में महात्मा कर्ण की दानवीरता के सम्बन्ध में विविध कथाएँ प्रचलित हैं। महात्मा कर्ण ईश्वर भक्त, त्यागी, दानी एवं कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति थे। किसी भी प्रकार का कैसा भी याचक महात्मा जी के सम्मुख प्रगट होता, उसको इच्छित वस्तु तुरन्त प्राप्त हो जाती थी।

एक समय की बात है—भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन महाभाग के सम्मुख कर्ण के त्याग एवं दान की प्रशंसा कर रहे थे। अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! आप कर्ण के दान की प्रशंसा इतनी क्यों कर रहे हैं ? इस विशाल भूमण्डल पर और भी तो बहुत से दानी, त्यागी महापुरुष हुए हैं। मनमोहन भगवान श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! संसार में कितने ही दानी हों, वे सब कर्ण की बराबरी नहीं कर सकते। इस पर अर्जुन योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण से बोले—प्रभो! हम कर्ण की दानवीरता देखना चाहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने तुरन्त स्वयं अर्जुन सहित ब्राह्मण का वेश धारण किया। माथे पर लम्बी त्रिपुण्ड लगाकर कमण्डल धारण कर अर्जुन के साथ पहले धर्मराज के घर पधारे। वहाँ भगवान द्वारपाल से बोले—धर्मराज को बताओ कि दो याचक ब्राह्मण पधारे हैं। द्वारपाल ने धर्मराज को शुभ-सूचना दी। धर्मराज ने तुरन्त आदरपूर्वक लाने का आदेश दिया। द्वारपाल ने दोनों विप्रदेवों को अन्दर ले गया, धर्मराज उनका यथोचित् आदर एवं सत्कार किया, तदनन्तर विधिवत् पूजन कर चरणोदक लिया एवं सुन्दर आसन पर प्रतिष्ठित किया। तब धर्मराज ने हाथ जोड़ कर पूछा—भगवन ! आप लोगोंने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ किया। अगर पधारने का प्रयोजन हो तो शीघ्र आज्ञा करें। विप्र वेशधारी भगवान ने कहा—राजन् ! हम आपके यहाँ कुछ याचना करने आये हैं। अंजलि बांधे धर्मराज बोले—आज्ञा हो प्रभो ! दास सेवा के लिए तैयार है। भगवान बोले—राजन् ! हमको कई मन चंदन की सूखी लकड़ी चाहिए। धर्मराज बोले—अच्छा प्रभो ! आप थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। मैं अभी लकड़ी का प्रबन्ध कराये देता हूँ। उन्होंने तुरन्त बाजार में सेवकों को भेजा। उस विप्र वेशधारी भगवान की ही लीला थी कि बाजार में कहीं लकड़ी मिली ही नहीं। इधर-उधर धर्मराज को परेशान देखकर भगवान बोले—राजन् ! हमें देर हो रही है। इस पर दुःख भरे मन से धर्मराज बोले—विप्रवर ! बड़ा दुःख है कि बाजार में लकड़ी है ही नहीं। प्रभो ! अन्य किसी चीज की आज्ञा करें। द्रव्य कहें जितना दूँ। भगवान बोले—राजन् ! हम तो विप्र हैं हमें धन की क्या आवश्यकता है, हमें तो बस सूखी

लकड़ी चाहिए थी। यदि नहीं है तो हम जाते हैं। यह कहकर दोनों ब्राह्मण भगवान कृष्ण एवं अर्जुन वहाँ से चल दिये।

दोनों ब्राह्मण उसी वर्षा काल में आधी रात के समय कर्ण के दरवाजे पर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर भगवान बोले—लगता है यही दानवीर कर्ण का भवन है। 'कर्ण का यही भवन है' ऐसा शब्द सुनकर महात्मा कर्ण घर से बाहर आये और बोले—प्रभु! मैं धन्य हुआ, नाथ पधारिये! यही कर्ण की कुटी है। विप्र वेषधारी योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कर्ण से बोले—भाई! हम बैठेंगे नहीं, जब तक कि हमें अपनी अभीष्ट वस्तु मिल नहीं जाती है। कर्ण ने कहा—प्रभो! मैं कैसे आप दोनों की पूजा करूँ। जब तक कि आप बैठते नहीं। प्रभो! बैठें कर्ण का शरीर मात्र ब्राह्मणों के लिए ही है। यह सेवक ब्राह्मणों का ही दास है। इस पर क्रुद्ध होकर वे ब्राह्मण बोल उठे—अरे हम बधिक हैं क्या कि हमें शरीर चाहिए, हाथ जोड़कर कर्ण ने कहा—प्रभो! आज्ञा करें। जल्दी से ब्राह्मण बोले—हमें तत्काल कई मन सूखी ईंधन जलाने के लिये चाहिए। किन्तु ईंधन बिल्कुल सूखा हो, इसमें पानी का छींटा तक न पड़ा हो। यदि इसमें देर होगी तो हम चले जायेंगे।

महात्मा कर्ण के पास तो सूखा ईंधन तो बहुत था, लेकिन वह महल से बहुत दूर था। उस समय तेज वर्षा हो रही थी। यदि वहाँ से लकड़ियां लायी जांय तो सब भींग जायेंगी, यह सब सोचते हुए कर्ण के महल में लगी हुई चन्दन की लकड़ियों को अपने भयङ्कर धनुष से तोड़कर गिरा दिया। सारी पलंगें जो चंदन की बनी थीं सबको तोड़कर सेवकों को शीघ्र चीड़-फाड़कर लाने की आज्ञा दे दी। देखते-देखते कई मन लकड़ियां जमा हो गईं। कर्ण बोले—प्रभो! लकड़ियां तैयार हैं। इस पर ब्राह्मणों ने कहा—कहाँ से लकड़ियां लायी। इतनी वर्षा में वे तो भींग गई होंगी। कर्ण ने अति विनीत भाव से कहा—नाथ! ये सब लकड़ियां यहीं भवन में ही मौजूद थीं कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता ही नहीं। ब्राह्मणों ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—कर्ण! घर में इतना ईंधन कहाँ से आ गया। धैर्यपूर्वक कर्ण बोले—नाथ! ये मेरी छतें, दरवाजे, सभी पलंग लकड़ी की होती हैं। भगवान बोले—कर्ण! तुमने यह क्या कर डाला? इतनी बहु-मूल्य लकड़ियों को तुमने नष्ट कर डाला। अरे! इतनी हानि क्यों उठाई।

कर्ण आँखों में आंसू भरकर बोले—हे मेरे स्वामी! कर्ण को कष्ट उस समय होता जब यहाँ से खाली हाथ विप्रराज जाते, उनकी इच्छित वस्तु न मिलती। ब्राह्मणों की मनोकामना न पूरी होती। प्रभो! आज मुझे बड़ा हर्ष एवं सुख है। मुझे आनन्द का अनुभव हो रहा है। नाथ! ये निर्जीव लकड़ियां किसी

उपयोग में आ गई। इसका इससे बड़ा उपयोग और क्या है कि मेरे पूजनीय अतिथि गुरु की इनसे सेवा बन रही है एवं सुख प्राप्त हो रहा है। मकान तो कल फिर बन जावेगा, किन्तु अतिथि विमुख होकर लौट जावे, यह मुझे जीवन भर खलता। प्रसन्न होकर ब्राह्मणों ने कर्ण को आशीर्वाद दिया, कर्ण तुम सर्वदा सबकी इच्छा पूरी करनेमें समर्थ हो, तुम्हारी रुचि सदा धर्म में हो। तुम्हारे यहाँ से कोई याचक खाली न जाय, संसार में तुम्हारा यश बना रहे।

देखते-देखते दोनों विप्र वहाँ से अन्तर्धान हो गये, उस समय कर्ण बड़ा विस्मित हुआ। भगवान ने कहा—अर्जुन ! देखी तुमने कर्ण की दानवीरता। क्या संसार में ऐसी उदारता सम्भव है ? धर्मराज के महल में कितनी चंदन की चीजें थी, किन्तु चंदन की लकड़ी मांगने पर उन्हें याद ही नहीं पड़ा, किन्तु कर्ण के यहां मात्र ईंधन कहने पर महल को तोड़कर लकड़ियों को एकत्र कर दिया। उस समय कर्ण को मात्र निर्जीव ईंधन ही दिखलाई पड़ा, अर्जुन इसे ही सच्चा त्याग और दानवीरता कहते हैं। अर्जुन यह अभ्यासकी चीज नहीं है। देनेकी शक्ति, मीठा बोलना, धीरता उचितज्ञता ये चारों स्वाभाविक गुण हैं—

दातृत्व प्रियवक्तृत्व धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासात् नैव लभ्यते चत्वारो सहजा गुणाः ॥

(पृष्ठ २२ का शेष)

हम यह स्वीकार करते हैं कि निष्काम कर्म करना सरल नहीं बड़ा कठिन काम है। तीव्र साधना और अटूट धैर्य की आवश्यकता है। हम यह भी मानते हैं कि कोई व्यक्ति एकदम निष्काम कर्म नहीं कर सकता। निष्काम कर्म के क्षेत्र में पहुँचने से पहले सकाम कर्म करने पड़ेंगे। पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम सकाम कर्म को कर्तव्य मानकर करते रहें और अपने आप एक दिन निष्काम कर्मी बन जायेंगे। कामनाओं के क्षेत्र को धीरे-धीरे संकुचित करना पड़ेगा—इच्छाओं को सावधानी के साथ कम करना होगा, तभी निष्काम कर्म संभव होगा, अन्यथा निराशा ही हाथ पड़ेगी।

अगर हमें निष्काम कर्म करने वाला कोई पुरुष संसार में नहीं मिलता तो कोई परवाह नहीं। महात्माओं के महात्मा, योगियोंके योगी और महापुरुषों के महापुरुष भगवान श्रीकृष्ण हमारे पथ प्रदर्शक हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य,
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

—गीता १८/६६

जब ऐसा व्यक्ति हमारी रक्षा और सहायता के लिए खड़ा है तो फिर हमें किस बात की चिन्ता है ? हम साधना करते हुए एक दिन निष्काम कर्म अवश्य कर सकेंगे। ऐसी श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए।

योग और अनुशासन

श्री के० वी० भट्ट

'सब भी विद्याओं में योग-विद्या का ज्ञान गोपनीय तथा कष्ट साध्य है। सांसारिक बन्धनों से मुक्ति चाहने वाला व्यक्ति ही योगाभ्यास करके मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसकी साधना केवल उनको ही करनी चाहिए जो सांसारिक व्यवहारों से विरक्त हो गये हैं।' इस प्रकार से विचार करना योग-विद्या के सम्बन्ध में बड़ी भारी भूल है, क्योंकि जिसकी साधना से सर्वश्रेष्ठ सुखरूपी परम पद (मोक्ष) मिल सकता है तो क्या उसकी साधना से सांसारिक विषय सुख की सहायता नहीं मिल सकती है? नहीं-नहीं मिल सकती है।

परन्तु योग-विद्या का ज्ञान केवल रट लगानेसे प्राप्त नहीं होगा, जैसे अन्य विद्याओं का ज्ञान रट-रट कर हासिल किया जा सकता है अथवा सामान्य शारीरिक परिश्रमसे संगीत आदि। किन्तु योग-विद्या के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसके अनुशासन एवं साधन को तन, मन, धनसे पालन करने की आवश्यकता है। जिसको अपनी काया की विशेष ममता हो, उनसे इस विद्या का मूल्य चुकाया नहीं जा सकता।

इससे संसारी क्या संसार से विरक्त हुआ व्यक्ति भी योग साधना से विमुख रहता है। ऐसे लोग केवल वेशभूषा से ही विरक्तता का परिचय, इतिहास, पुराण, वेदान्त, शास्त्र इत्यादि का स्वयं अनुभवहीन उपदेश देकर अपना जीवनयापन करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक सुख प्राप्त करने के लिए अपनी काया की ममता को त्यागने में समर्थ होगा वही इस विद्या के विज्ञान को निःसन्देह प्राप्त कर सकता है चाहे वह गृहस्थ हो या विरक्त।

पठन्ति चतुरो वेदान, धर्मं शास्त्रमनेकशः।
यावद्ब्रह्म न जानाति, दर्वी पाक रस यथा॥
—नीति वाक्य

चारों वेद तथा अनेकों धर्मशास्त्रों को पढ़ने पर भी जब तक अपनी आत्मा को जानने में असमर्थ है तो जैसे करछुली व्यंजनों के अन्दर रहते हुए भी उसके स्वाद को नहीं जानती है, उसी प्रकार वेद, शास्त्रों के पण्डित सुगन्ध रहित पुष्प जैसे हैं। यदि मनुष्य कर्म नियमित आहार एवं साधनों द्वारा अपनी शारीरिक, मानसिक आरोग्य को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त करने में असमर्थता दिखावे, तो उसे कितना धन, सम्पत्ति तथा पारिवारिक सुख क्यों न हो, अपने मनमाने सुख शान्तिको प्राप्त करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग, मन्त्र-योग, सांख्य-योग, लय-

योग, दानवीरता इत्यादि के साधक लोग भी अपनी शारीरिक ममता छोड़कर स्वतः ही आरोग्य को साधन द्वारा प्राप्त करना नहीं जानता है, तब तक उपरोक्त योग साधनों में दृढ़ता एवं सिद्धि प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकती है। जैसे कहा है—

धर्मार्थ काम मोक्षणामारोग्यं मूल कारणम् ।

—आयुर्वेद

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चारों पदार्थ आरोग्यवान व्यक्ति ही प्राप्त करने में समर्थ है, अन्य नहीं। उक्त चारों पदार्थ के अन्तर्गत ही उपरोक्त योग साधन आ जाते हैं।

उपरोक्त कोई भी योग साधन पर शारीरिक आरोग्य की प्रधानता नहीं है। केवल मानसिक साधन मात्र है। अष्टांग योग ही एक ऐसा योग है जिसमें शारीरिक, मानसिक आरोग्य एवं आध्यात्मिकता की सिद्धि की भी प्रधानता है। सृष्टि के आदि काल से ही यह योग प्रसिद्ध है। इसके आठ अङ्ग इस प्रकार है—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इस अष्टांग योग के अन्तर्गत ही उपरोक्त चारों पदार्थों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

उदाहरण—महाप्रलय के अनन्तर ईश्वरीय सत्य सङ्कल्प की प्रेरणा से सृष्टि का पुनर्निर्माण जब होता है, तब उसमें सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले ऋषियों को समाधि द्वारा वेदों का ज्ञान प्राप्त होता है। तदनन्तर उन ऋषियों द्वारा संसार में वेदों का प्रचार होता है। इस अष्टांग योग के रहस्य को सर्वप्रथम शिवजी ने पार्वती को समझाया था। उसका नाम 'शिव-संहिता' है और घेरण्ड ऋषि ने योग साधन को चण्ड कपाली राजा के प्रति कहा है, जिसे 'घेरण्ड संहिता' कहते हैं और पतंजलि मुनि ने अपने शिष्यों को इस योग का उपदेश करके उसे क्रियात्मक रूप से सिद्ध करने के लिए अष्टांग योग को सूत्र रूप में प्रकट किया था। तब से 'पातंजलि योग दर्शन' हुआ है। उपनिषद काल में 'योगोपनिषद' नाम से योग का प्रचार हुआ था। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बारम्बार 'तस्माद् योगी भवार्जुन' करके सम्बोधन किया है। यदि गृहस्थ आश्रमी को योगाभ्यास करना उचित नहीं है तो भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनने के लिए क्यों प्रेरणा करते और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण गृहस्थ आश्रमी होते हुए भी 'योगेश्वर' कहलाये हैं। भारत के प्राचीन इतिहास पर गौर किया जाय तो राजा जनक तथा बड़े-बड़े राजा, महाराजा, ऋषि, मुनि और उनकी पत्नियाँ भी इस योगाभ्यास के ज्ञान के द्वारा ही अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके अच्छे-अच्छे शूर-वीर, ज्ञानी, विज्ञानी सुसन्तानों की उत्पत्ति योग्य रीति से उनके पालन-पोषण करने में

समर्थ होते थे। इससे अब तक उनका चरित्र, यश एवं कीर्ति को पवित्र मानकर जन साधारण में कथा के रूपमें प्रमाणित हुआ है।

अष्टांग योगाभ्यास द्वारा चित्त की शुद्धि जितना विशेष रूप से होती है उतनी शीघ्र अन्य योगाभ्यास से शुद्धि एवं मोक्ष नहीं हो पाती है। इसीलिये योग दर्शन में श्रीपतंजलि मुनि ने प्रथम सूत्र को 'अथ: योगानुशासनम्' कह कर द्वितीय सूत्र में 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध:' तृतीय सूत्र में 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' कहा है।

अर्थात् तीनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि जो योगके अनुशासन द्वारा योगाभ्यास करेगा वही चित्त की वृत्तियों का निरोध करने में सफल होगा, तभी अपने स्वरूप में स्थित होगा।

अर्थात् जीवात्मा जो "योगानुशासन" का पालन करेगा उसके द्वारा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति ऐसे यह पांच प्रकार की चित्त वृत्तियों को उक्त योग के अभ्यास द्वारा निरोध करके अपने स्वरूप को स्वतः देखने में समर्थ होगा। जब अपनी पहचान स्वतः कर लेगा तो अपने आपमें परमात्मा को भी देखने में समर्थ होगा, इसी को परमपद कहते हैं। वेदों में उसको "तद् विष्णो परमं पदम" कहा है। उस पद की प्राप्ति दूसरों के आश्रय व साधनों से नहीं की जा सकती है और यह दिखने वाला पदार्थ नहीं है क्योंकि वह स्वतः देखने वाला पदार्थ है। जैसे मिठाई के स्वाद का अनुभव दूसरों के द्वारा नहीं होता, वैसे ही मोक्ष पद एवं परमात्मा का दर्शन दिखने वाला पदार्थ नहीं है। अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा के परस्पर मिलने से ही यथार्थ में योग शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है।

व्याकरण के अनुसार 'युज्' धातु से योग शब्द बना है। अर्थात् दो वस्तु या पदार्थ के परस्पर मिलने को योग कहा गया है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर योग अनेकों प्रकार के होते हैं। परन्तु यहां तात्पर्य यह है कि जिस योग के द्वारा संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो जाये वही योग है। उसके लिए जीवात्मा परमात्मा की एकता को प्राप्त कराने वाले अष्टांग योग साधन को ही योग माना गया है।

उसकी साधना करना केवल मानव देहधारी प्राणी से ही सम्भव है, अन्य शरीरधारी जीवों से असम्भव है, क्योंकि उनके शरीर का आकार एवं स्थिति जो है उक्त योगोंको करने लायक नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि कि केवल मानव शरीरधारी जीवात्मा को ही इसका अभ्यास करना जन्मसिद्ध अधिकार है। भले ही वह इसे करने से वंचित रहे या परिस्थिति अनुकूल न हो, किन्तु उस योग पर उसकी दायित्व या हक जरूर है।

इस लेखक को भी योगाभ्यास से से सम्बन्धित विषयों का अनुभव ज्ञान विरक्त साधु-संन्यासियों की अपेक्षा गृहस्थ आश्रमी-योगियों से ही प्राप्त हुआ है। यदि मानव

समाज का गृहस्थ आश्रम कमजोर हो जाय तो उसके आश्रय में रहने वाले अन्य सभी आश्रम एवं राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकारों में भी सब प्रकार की कमजोरियाँ आ जाती हैं। इससे ज्ञानी तथा विवेकशील स्त्री-पुरुषों का कर्तव्य है कि जिस रीति से गृहस्थ आश्रम की नींव मजबूत एवं सबल बने, उसके द्वारा ही अपना तथा लोक कल्याण समझकर तन, मन, धन से प्रति दिन अपने जीवन के समय का उपयोग करें।

इससे बुद्धिमान व्यक्ति इस पुस्तक में पेट के आरोग्य के लिए यौगिक विधि विज्ञान द्वारा दर्शाये गये व्यायाम तथा आसनों का अभ्यास करके स्वतः लाभ उठायें और अन्य मित्रों को भी इसके अभ्यास से स्व-अनुभव का परिचय देकर आरोग्यवान देने के लिए प्रेरित करें।

आधुनिक शरीर—विज्ञानके अनुसार सामान्य तौर पर विवेक से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण आरोग्य प्राप्ति के लिए शरीरके प्रधान तीन अंग हैं—(१) यकृत (पेट) (२) रीढ़ (३) मस्तिष्क इनको सर्व प्रथम निरोग रखने की आवश्यकता है। यदि अपने पेट के आरोग्य को उक्त साधन से, बिना औषधि सेवन के ही स्थिर रख सकें तो रीढ़ एवं मस्तिष्क भी अपने आप अपना कार्य ठीक रीति से कर सकते हैं। जब पेटके अन्दर यकृत (कलेजा) अपना काम ठीक तौर पर करने में समर्थ है, तो हृदय-तिल्ली और अंतड़ियाँ भी ठीक-ठीक काम करती हैं, जिससे खाये-पीये पदार्थ से आमाशय में अच्छे तौरसे रस बनता है। इस प्रकार जब शुद्ध रस बनता है तब रस रक्त, मांस, मज्जा, मेदा, अस्थि, शुक्र ओज इत्यादि सब शुद्ध रहते हैं। मनुष्य को अपने मस्तिष्क को शक्तिशाली बनाने के लिए शुद्ध ओज की वृद्धि अवश्य करनी चाहिए, इसके लिये अपने यकृत की शक्ति वृद्धि का प्रयत्न सर्वप्रथम करना चाहिये। उससे ही अपने मानसिक बल को बढ़ाने वाले ओजकी वृद्धि होगी। इसे ध्यान में रखकर प्रति दिन प्रातः एवं सायं अपनी सुविधानुसार एक समय पहले यौगिक सूक्ष्म व्यायाम फिर पेट सम्बन्धी आसनों की साधना करनी चाहिये।

पहले चित्त लेटकर करने वाले आसनों का अभ्यास करना चाहिये।

तदुपरान्त पेट के बल (पट्ट) लेटकर करने वाले आसनों को करें। पुनः चित्त लेट कर 'चक्रासन' करके 'पश्चिमोत्थानासन' करें।

इनमें आसनों को प्रारम्भ में सम्पूर्ण न कर सकें तो पहले जितना चित्त (पीठ के बल) लेट कर करें, उतना ही पट्ट लेटकर करें—तदनंतर चक्रासन तथा पश्चिमोत्थानासन करने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा अभ्यास एक या दो सप्ताह करके जब उससे अधिक करने की शक्ति प्राप्त हो जाय तब चित्त तथा पट्ट लेटकर करने वाले सभी आसनों को करने का प्रयत्न करें।

(क्रमशः)

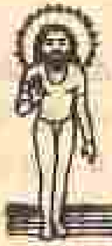

योगेश्वर चरित्र माला

❀ श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा

योगी अमरनाथ जी

श्री अमरनाथ जी आनन्दकन्द श्री प्रभु जी के शरणागत होने वाले आदर्श जिज्ञासु भाइयों में से एक थे। इनका जन्म पवित्र ब्राह्मण कुल में पंजाब प्रान्तान्तर्गत गांव में हुआ था। ये जन्म से ही बहुत पवित्र एवं आदर्श-शील स्वभाव के थे। मन में भगवद्दर्शन की पवित्र अभिलाषा बाल्यकाल से ही बनी रहती थी। परन्तु उस मार्गके प्रदर्शक किसी परिपूर्ण गुरुदेव के दर्शन न पानेके कारण मनमें बराबर अशान्ति रहती थी। प्रतिक्षण उनके मन में यह अभिलाषा तीव्रतर होती जाती थी—पूर्ण साक्षात्कार कराने वाले कोई गुरुदेव मिल जायें, तो उनके चरण-कमलों पर अपने को न्यौछावर करके धन्य कर लूं।

श्री अमरनाथ जी का विद्याध्ययन बहुत साधारण था। इनके कई भाई अमृतसर में लक्ष्मणसर पर होटल की दुकान करते थे। भाई अमरनाथ जी भी किसी साधारण व्यव-साय के लिये अमृतसर में ही निवास किया करते थे। सत्संग की प्रवृत्ति तो बराबर बनी ही रहती थी। इसी बीच में इन्होंने आनन्द-कन्द श्री प्रभुजी की महिमा किसी व्यक्ति के मुखसे सुनी और इन्होंने नित्य सत्संग में आना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप शनैः शनैः श्री प्रभुजी के चरण कमलों में इनकी निष्ठा परिपक्व होने लगी। समय आने पर इन्होंने पवित्र योग-मार्ग में उनसे योग दीक्षा प्राप्त की। दीक्षित होने पर इनकी ध्यान-स्थिति अनवरत बढ़ने लगी और इनका अभ्यास क्रमानुसार बढ़ता गया। ध्यान-स्थिति के परिपक्व होने पर इन्होंने ध्यान-योग से ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत अवलोकन किया। योगदर्शन के विभूति-पाद में भगवान पतंजलि जी महाराज ने एक सूत्र लिखा है—"भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्" अर्थात् योगी को चाहिए कि अपने संयम के आधार पर चौदह भुवनों को देख डाले और ईश्वर के दिव्य ऐश्वर्य का खूब अवलोकन करे। सूर्य में संयम करने से यह संभव होता है।

इस शास्त्रीय नियमानुसार हमारे सद्गुरुदेव योगीयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज का भी यह नियम था कि वह स्थिति प्राप्त साधक को दिव्य-लोकों का दर्शन पहले से ही

करा दिया करते थे, जिससे उनके वैराग्य में कोई विक्षेप उत्पन्न न हो एवं उसकी साधना निर्विघ्न उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाय। उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार श्री प्रभु जी ने भाई अमरनाथ जी को अतल, वितल, रसातल, तलातल पाताल आदि नीचे के एवं भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य आदि ऊपर के लोकों का पूर्णरूपेण साक्षात्कार कराया था। भाई श्री अमरनाथ जी ईश्वर के ऐश्वर्य का खूब अवलोकन कर चुके थे, अतः उनके मन में तीव्रता से पूर्ण वैराग्य-भाव का उदय हुआ। जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने जीवन को पूर्णरूपेण तपोमय बना डाला। उनकी दिन-चर्या में उनके अपने दो ही कार्य प्रमुख थे—एक तो आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के दर्शन प्राप्त करना तथा दूसरा कार्य था—अधिकाधिक मन लगाकर योगाभ्यास करना।

योग-दर्शन का सिद्धान्त है—

यत्र मनो लीयते, तत्र प्राणो लीयते।
यत्र प्राणो लीयते, तत्र मनो लीयते॥

अर्थात् जहाँ पर मन का लय होता है वहीं पर प्राण भी स्वयं लय हो जाया करता है एवं जहाँ प्राण लय होता है वहाँ स्वतः ही मन भी लय हो जाया करता है।

इस सिद्धान्तानुसार भाई श्री अमरनाथ जी का भी अभ्यास चला। उनका मन काल के अधिकार से आगे ब्रह्माण्ड में लय रहा करता था। जिस समय वह अपना अभ्यास करना आरम्भ करते थे, उनके पाँचों प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान—योगयुक्त हो जाया करते थे। शक्ति-चालिनी मुद्रा करते समय उनको भस्त्रिका प्राणायाम तीव्रता से चला करता था। शनैः शनैः उनका यह प्राणायाम कुम्भक के रूप में बदलता चला गया और उनका आसन भूमिसे ऊपर उठना प्रारंभ हो गया। मुझे वह दिन याद है जबकि योग-साधन आश्रम ऋषिकेश में भाई अमरनाथजी का आसन भूमि से ऊपर उठा और उनके उत्थित आसन के नीचे श्री प्रभुजी ने अपना हाथ घुमाकर दिखलाया था। इस दृश्य को देखने वाले जो भी सैंकड़ों व्यक्ति उस समय आश्रममें उपस्थित थे, कदाचित उनमें से पाँच-दस अब भी इस संसार में होंगे। इस प्रकार पृथ्वी से ऊपर अधर में स्थित उनका आसन देखकर सबको बड़ा भारी आश्चर्य होता था।

भाई अमरनाथ जी का निवास प्रायः अमृतसर में ही रहता था। अपने मन से ही उन्होंने इस अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उनकी तीव्र अभिलाषा होने लगी कि कुछ समय बाद वे जंगलों में निकल जायेंगे और तीव्रतम वैराग्य धारण करके योगाभ्यास करेंगे। किन्तु होनहार कुछ और ही थी। कदाचित् श्री प्रभुजी को ऐसा अभी स्वीकार नहीं था, क्योंकि भाई अमरनाथ जी का कुछ प्रारब्ध भोग शेष था। उनके तीव्र वैराग्यमय भावोंको देखकर उनके कुटुम्बी

वालों ने उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने को बाध्य कर दिया। तीव्र अनिच्छा होने पर भी अमरनाथ जी को अपने परिवार वालों का आग्रह मानकर इस आश्रम में प्रवेश करना पड़ा। लाहौर में जिस समय भाई अमरनाथ जी ने पत्नी का पाणिग्रहण किया, उसी समय बड़े सरल एवं स्पष्ट शब्दों में अपने श्वसुर से कहा—अच्छा! यदि होनहार ऐसी ही थी, वह तो हो ही गई। अब हम केवल एक साल के मेहमान हैं। एक साल के बाद आप अपनी इस लड़की को श्री प्रभुजी के चरण कमलों में दीक्षित करा दीजिये और योगाभ्यास कराया कीजियेगा।

श्री अमरनाथ जी के श्वसुर उनसे या श्री प्रभुजी से पूर्व परिचित तो थे नहीं। अतः उनके मुख से निकली बात का मर्म न समझ सके। वास्तविकता न समझकर अनभिज्ञ से प्रेमपूर्वक पूछने लगे—बेटा! तुम क्या कह रहे हो? बीच में ही उनके भाई लक्ष्मणदास जी बोल उठे—कुछ नहीं पण्डित जी, यह केवल यही कह रहे हैं कि जैसे हम योगाभ्यास करते हैं, उसी प्रकार इसको भी कराया करेंगे। यह सुनकर उनके श्वसुर हँस पड़े और कहने लगे—हाँ, हाँ बेटा, क्यों नहीं? अब तो यह तुम्हारी हो गई, चाहे कुछ भी कराना। पाणिग्रहण संस्कारका कार्य समाप्त हुआ, परन्तु अमरनाथ जी के जीवनमें परिवर्तन का प्रारम्भ न हुआ। अब वे हर समय काफी चिन्ता-मग्न से रहने लगे। स्वयं अकेले बैठे-बैठे कभी हँस पड़ते थे और कभी मुख से यह वचन निकलते थे—क्या था और क्या हो गया? हम तो साधु थे, परन्तु बैकुण्ठवासी बना दिये गये। क्या सोचते थे और क्या होगा? श्री अमरनाथ जी अपने भाई लक्ष्मणदास जी से भी बार-बार यही कहा करते थे—भाई, तुमने यह अच्छा नहीं किया। एक साधु को तुमने बैकुण्ठवासी बना दिया है। लक्ष्मणदास जी बार-बार आग्रह-पूर्वक पूछते—भाई, मैंने तुम्हें कैसे बैकुण्ठवासी बना दिया? यह तुम क्या कहा करते हो? इस पर अमरनाथ जी हँस पड़ते और कहते—अभी क्या बता दें। एक वर्ष का समय है, इसको निकाल लें, तब इकट्ठा ही बता देंगे।

शनैः शनैः वर्षावधि भी समाप्त होने को आ गई। भाई अमरनाथ जी के ध्यानाभ्यास में गृहस्थ हो जाने पर भी किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने पाई थी। पूर्ववत् उनकी साधना का क्रम चलता ही रहा था। उनका मुख-मण्डल पूर्णरूपेण देदीप्यमान रहा करता था। बीच-बीचमें बारम्बार अपने मुखसे उन्हीं शब्दों का उच्चारण करते रहते थे—क्या था, क्या हो गया? अन्त में पूरा वर्ष समाप्त होकर वह दिन भी आ गया, जिसकी उन्हें प्रतीक्षा थी। उस दिन श्री अमरनाथ जी ने प्रातःकाल ही स्नान किया। अन्य दिनों की अपेक्षा आज बहुअधिक उल्लसित थे किसी प्रकार के रोग, शोक या चिन्ताका चिह्न उनके शरीर

पर नहीं था। उस दिन प्रातःकाल से ही उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—अच्छा, आज यात्रा का दिन आ ही गया। आज मुसाफिर चला जायगा। उनके मित्र, भाई आदि बड़े आश्चर्य से पूछने लगे—कौन मुसाफिर है? वह आज कहाँ जारहा है? तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया—भाई, और दूसरा कौन, हम ही तो वह मुसाफिर है। दो-चार घण्टे और प्रतीक्षा करो। स्वयं पता चल जायगा कि कहां जा रहे है? उस दिन श्री अमरनाथ जी की भस्त्रिका प्राणायाम बार-बार जारी होता था। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से अपने बड़े भाई लक्ष्मणदास जी को बुलवाकर कहा—भाई, आज एक वर्ष की अवधि पूरी होगई है। मेरी यात्रा का दिन आज आ गया है। श्री अमरनाथजी ने उनको लौकिक व्यवहार शुद्ध रखने की काफी शिक्षा दी और बारम्बार उनको समझाया। इस कलिकाल के घोर अन्धकार-पूर्ण समय मे पूर्ण सद्गुरु का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। बड़े सौभाग्य की बात है कि आजकल आनन्दकन्द योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जो परिपूर्ण सद्गुरुतत्व के अवतार है, इस पृथ्वी पर विराजमान है। उन्ही करुणाकंद श्री प्रभु जी के चरण-कमलों में तुम सब लोगों को अपना-अपना मन लगा कर इस जीवन को कृतकृत्य कर लेना चाहिए, मनुष्य-योनि और परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध योग योगेश्वर जी के चरण-कमलों की प्राप्ति, ऐसा मणि-कांचन संयोग फिर हाथ आये या न आये। ऐसा स्वर्ण अवसर बार-बार नहीं मिला करता। यह उपदेश करने के पश्चात् श्री अमरनाथ जी सब लोगों से कहने लगे—अच्छा, अब समय बिल्कुल निकट आ गया है। दो घण्टे का मेरा एक सत्कार है, उसका भी भुगतान कर लूँ।

उनके भाई लक्ष्मणदास जी उनकी बातें सुनते थे, पर अर्थ नही समझ पाते थे। जो थोड़ा अर्थ समझते भी थे, उस पर सहसा विश्वास न कर सके। वह नहीं समझ सके कि श्री अमरनाथ जी दो घण्टे बाद ही महायात्रा करने वाले है। देखते-देखते अमरनाथ जी को तीव्र ज्वर हो गया। आश्चर्य की बात यह थी कि इस तीव्र-ज्वर की वेदना में भी उनका भस्त्रिका प्राणायाम पूर्ववत् निरन्तर चलता रहा और ध्यान-मग्न ही रहे। दो घण्टे की तीव्र-ज्वर वेदना के बाद वह सिद्धासन लगा कर ध्यान में लीन हो गये। ध्यान में बैठने से पूर्व उनके मुख से निकला—अच्छा भाई, मुसाफिर जा रहा है। तत्पश्चात वह पूर्ण-रूपेण तद्गत हो गये और भस्त्रिका प्राणायाम निरन्तर चलता रहा। लोगों के देखते-देखते उनकी दृष्टि भ्रूमध्य होगई और वह एक शांत योगी की तरह निश्चल हो गये। यह उनकी वह समाधि थी, जिसकी प्रतीक्षा वह बड़ी ही व्यग्रता से प्रिय अतिथि के समान कर रहे थे। अन्ततः भाई अमरनाथ जी इस पार्थिव शरीर

को त्यागकर अपनी उस अनन्त यात्रा पर चल दिये, जिसकी चर्चा वे प्रातःकाल से कर रहे थे। पास बैठा कोई भी व्यक्ति यह न समझ सका कि परमार्थ मार्गके सच्चे पथिक ने आज अपनी यात्रा को पूर्ण कर अपने लक्ष्य को पा लिया है। उनका शरीर गिर जाने पर भी उनके भाई लक्ष्मणदास जी ने यही समझा—यह भी कदाचित प्राणायाम की ही कोई गति है, जिससे बैठे-बैठे अकस्मात् इनका शरीर गिर गया है, परन्तु कुछ समय बाद सभी लोगों को उनके देहावसान की घटना पर विश्वास करना ही पड़ा।

भाई अमरनाथ जी ने देह-त्याग अपने ग्राम में ही किया था। फलस्वरूप विद्युत की भाँति इस समाचार ने सारे गांव फैलकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया। सहसा सुनकर किसी को विश्वास नहीं होता था कि सचमुच ऐसा हो गया होगा। झुण्ड के झुण्ड घटना की सत्यता जानने उस स्थान पर पहुँचने लगे। भाई अमरनाथ जी स्वभाव से ही सबको प्रिय थे। मृदुभाषी थे। इसके अतिरिक्त स्वयं कष्ट उठाकर भी सदैव परोपकार के लिए तत्पर रहते थे। उनके हृदय में लोक-हित की बड़ी भावनाएँ रहा करती थीं। अतः स्वाभाविक ही सभी को उनकी इस आकस्मिक मृत्यु का बहुत दुःख था। उस दिवंगत महान् आत्मा के लिए सभी का हृदय शोकाकुल था एवं उनके महान् गुणों का स्मरण सबको हो रहा था।

इसके साथ ही साथ एक और विचारधारा भी लोगों के मन में उठ रही थी, वे लोग मन में सोचते थे—ये इतने बड़े योगिराज के शिष्य थे। इन्होंने देह-त्याग तो अपने संकल्पसे किया है, किन्तु कोई विशेष चमत्कार दिखाई नहीं दिया और न ही इनका कपाल-भेदन हुआ है।

क्रमशः अन्तिम संस्कार के लिए उनकी शव-यात्राकी तैयारी की गई और उनके मृत शरीर को दाह-संस्कार के हेतु श्मशान-भूमि में ले जाया गया। चिता निर्माण हो जाने पर उनका शव चिता में रख दिया गया। ज्योंही अग्नि-संस्कार प्रारम्भ हुआ, सभी एकत्रित ग्राम-वासियों ने बड़ा भारी आश्चर्य देखा, उनकी चिता पर सहसा अनेकों प्रकार के वाद्य-यन्त्र बजने लगे। घण्टे, घड़ियाल, शंख, मृदंग आदि सभी वाद्यों की ध्वनियाँ चिता पर गूँज उठीं। परन्तु बजाने वाला कौन है? इसकी चेष्टा करने पर भी ज्ञात नहीं होता था, ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई वैदिक-मन्त्रों का गायन कर रहा हो। दिव्य आरती उतारी जा रही हो। चिता पर बजने वाले वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि धीरे-धीरे ऊपर उठती गई और शनैः शनैः अन्तरिक्ष में विलीन हो गई।

जो योगाभ्यासी वहाँ उपस्थित थे, जिनको अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी, उन सभीने खुली आँखों देखा कि भाई अमरनाथ जी एक देदीप्यमान श्वेत वर्ण के दिव्य विमान में विराजमान हैं एवं उनका स्वरूप चतुर्भुजी विष्णु भगवान

गोसेवा से ब्रह्मज्ञान

प्रेषक—श्री केशवदेव उपाध्याय

प्रभु-कृपा से छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर एक ऐसे गुरु-भक्त बालक की जीवन-गाथा का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है, जिसने गुरु-आज्ञा से गोसेवा का व्रत धारण किया और इसी व्रत-पालन में उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। वैसे शास्त्रों का मत है कि गुरु-आज्ञा पालक शिष्य बिना किसी विघ्न के समय पर भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है। गुरु-भक्ति का बड़ा ही भव्य दृष्टान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। शिष्य की कितनी कठिन परीक्षा है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की कामना वाले शिष्य को गुरुदेव की गौओं को चराने हेतु वन में भेज देते हैं और शिष्य प्रसन्न मन से चुपचाप आज्ञा शिरोधार्य कर वर्षों तक निर्जन वन में चार-सौ दुबली-पतली गायों के साथ निवास करता है। ऐसे उदाहरण ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषि-कुमारों में ही मिलना सम्भव है। आजकल के वातावरण में इस प्रकार की श्रद्धा एवं भावना वाले शिष्यों की संख्या बहुत ही कम है। सिद्ध योग के सुयोग्य पाठकों से प्रार्थना है कि लेख की त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा की जाय।

लेख का नायक 'सत्यकाम' एक ब्रह्म-चारिणी ब्राह्मणी जबाला का पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जाने की इच्छा से अपनी माता से पूछा—हे पूजनीय माता जी! मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ गुरुदेवजी की सेवा में रहना चाहता हूँ। गुरुदेव जी मुझसे नाम और गोत्र पूछेंगे। मैं अपना नाम तो जानता

(पिछले पृष्ठ का शेष)

थैठा है। उनके विमान के आसपास बहुत से दिव्य वाद्य-यंत्र बज रहे हैं। विमान पर दिव्य पुष्पों की वृष्टि हो रही है। श्री अमरनाथ जी ने चिताभूमि पर उपस्थित समुदाय को एक बार देखा और कहा—"मैं अपने परम कृपा-निधि सद्गुरुदेव जी की परम कृपा से वैकुण्ठ वासी हो रहा हूँ।" केवलमात्र ध्यानाभ्यासी ही इस अलौकिक दृश्य को देख सके एवं अमरनाथ जी के उपर्युक्त शब्द सुन सके। देखते-देखते अमरनाथ जी का विमान ऊपर उठते-उठते अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। यह सब दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हुए ग्रामवासी अपने-अपने घरों को लौटने लगे एवं गद्गद्-कण्ठ होकर "योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी की जय" इस प्रकार की जय-जयकार की ध्वनि बारम्बार मुख से उच्चारण करने लगे। इस घटना को जानने वाले ग्राम निवासी अब भी उस ग्राम में उपस्थित हैं।

ही हूँ, परन्तु गोत्र नहीं जानता। अत: मेरा गोत्र क्या है, सो बतलाने की कृपा करें।

जबाला ने कहा—बेटा ! तू किस गोत्र का है, इस बात को मैं भी नहीं जानती। मेरी जवानी में जब तू पैदा हुआ था, तब हम लोगों के घर पर बहुत से अतिथि आया करते थे। मेरा सारा समय अतिथि सेवा में ही बीत जाया करता था, इससे मुझको तेरे पिता जी से गोत्र पूछने का समय नहीं मिल सका। मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम। बस, मैं इतना ही जानती हूँ। 'तुझसे यदि आचार्य पूछें तो कह देना कि मैं जबाला पुत्र सत्यकाम हूँ।' माता की आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुम के पुत्र गौतम जी के घर गया और प्रार्थना करके बोला कि हे गुरुदेव भगवान् ! मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ, आपके समीप रहकर आपके श्री चरणों की कृपा से ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, मुझे स्वीकार करने की कृपा की जाय। गुरुदेव जी ने सस्नेह प्रश्न किया—हे सौम्य ! तेरा गोत्र क्या है ? सरल स्वभाव से सत्यकाम ने प्रार्थना की—भगवन् ! मेरा गोत्र क्या है ? इस बात को मैं नहीं जानता हूँ। मैंने श्रीचरणों में आते समय अपनी माता जी से अपना गोत्र पूछा था। माता जी ने कहा, कि मैं युवावस्था में अनेकों अतिथियों की सेवा में लगी रहने के कारण स्वामी जी से गोत्र नहीं पूछ सकी। युवावस्था में जब तेरा जन्म हुआ था, उसी समय तेरे पिताजी स्वर्ग सिधार गये। इसी शोक और दुःख से पीड़ित होने के कारण मैं दूसरों से भी तेरा गोत्र नहीं पूछ सकी। मैं केवल मात्र इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम है सत्यकाम। अत: मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि "मैं जबाला पुत्र सत्यकाम हूँ।"

सत्यवादी सरल हृदय सत्यकाम की सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम जी प्रसन्न होकर बोले—'वत्स ! ब्राह्मण को छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भाव से सच्ची बात कह ही नहीं सकता। क्योंकि—

नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति

ऐसा सत्य और कपट-रहित वचन कहने वाला तू निश्चय ही ब्राह्मण कुमार है। मैं तुझे गुरुदीक्षा अवश्य ही प्रदान करूँगा।

विधिवत् गुरुदीक्षा देने के बाद गौतम ऋषि ने अपनी गोशाला में से चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकाम से कहा—'पुत्र ! इन गौओं को चराने वन में ले जा। देख ! जब तक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो जाय तब तक वापस न आना।'

'नासहस्रेणावर्तयेति'

हे भगवन् ! जब तक इनकी संख्या एक हजार नहीं हो जायेंगी वापिस नहीं आऊँगा। यह प्रार्थना करके सत्यकाम गौओं को लेकर जिस वन में चारे-पानी की बहुतायत थी उसी वन में चला गया तथा वहीं कुटिया बनाकर वर्षों तक उन गौओं की तन-मन से खूब सेवा करता रहा।

सेवा करते-करते गौओंकी संख्या पूरी एक हजार हो गई। तब एक दिन एक वृषभ ने आकर पुकारा—सत्यकाम ! सत्यकाम ने उत्तर दिया, भगवन् ! क्या आज्ञा है ? वृषभने कहा, वत्स ! हमारी संख्या एक हजार हो गई है, हमें गुरुदेव के घर ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्म के एक पाद का उपदेश करता हूँ। इसके बाद वृषभ ने ब्रह्म के एक पाद का उपदेश किया। उपदेश देने के बाद वृषभने कहा—इस उपदेश का नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुम्हें अग्निदेव करेंगे। दूसरे दिन प्रातःकाल सत्य-काम ने गौओंके साथ गुरुधाम को प्रस्थान किया, संध्या के समय उसने रास्ते में पड़ाव डाला और गौओं को समुचित चारा तथा जल देकर रात्रि विश्राम किया। तदनन्तर वन में से लकड़ी एकत्र की तथा उसे जलाकर पूर्वाभि-मुख होकर बैठ गया।

रात के तीसरे पहर अग्निदेव आये और उन्होंने कहा – वत्स सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करता हूँ। अग्नि-देव ने ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश करके कहा—वत्स सत्यकाम ! इस उपदेश का नाम अनन्तवान् है।' अगला उपदेश तुम्हें हंस प्रदान करेगा। सत्यकाम रातभर उपदेश का मनन करता रहा। प्रातःकाल सत्यकाम गौओं को लेकर आगे चला और एक सुन्दर जलाशय के किनारे पड़ाव डालकर ठहर गया। उसने गौओं के लिये रात्रि निवास की समुचित व्यवस्था की तथा स्वयं आग जलाकर पूर्वा-भिमुख होकर बैठ गया। इतने में एक हंस ऊपर से उड़ता हुआ आया और सत्यकाम के पास बैठकर बोला—वत्स सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश बतलाता हूँ। इसके पश्चात् हंस ने ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश करके कहा—इस उपदेश का नाम ज्योतिष्मान है। अगला उपदेश तुम्हें जलमुर्ग से प्राप्त होगा। इस तरह पूरी रात सत्यकाम ब्रह्म के तीसरे पाद का चिन्तन करता रहा। अगले दिन प्रातःकाल सत्यकाम पुनः गौओं को लेकर गुरुगृह जाने के लिये आगे चला। संध्या होने पर एक वट-वृक्ष के नीचे रुककर उसने गौओंके खान-पान की समुचित व्यवस्था की। रात के तीसरे पहर उसने लकड़ी एकत्र की तथा उसमें आग लगाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतने में एक जलमुर्ग ने आकर पुकारा—वत्स सत्यकाम ! मैं तुम्हें ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश बतलाता हूँ। इसके पश्चात् जलमुर्ग ने ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश करके कहा कि इसे आयतनवान् रूप कहते हैं।

इस प्रकार विभिन्न माध्यमों के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर साधक सत्यकाम एक हजार गौओंके विशाल समूह के साथ आचार्य गौतम जी के घर पहुँच गया। इस समय सत्यकाम का मुख मण्डल ब्रह्मज्ञान के तेज से ओत-प्रोत था। गुरुदेव जी ने सत्यकाम की चिन्तारहित तेजपूर्ण दिव्य मुख-कान्ति को देखकर कहा कि

विश्वास और अनुभव

॥ स्वामी श्री रामसुखदास जी

दो बहुत सरल और सुगम बातें हैं, एक है श्रद्धा की और एक है अनुभव की। श्रद्धा की बात यह है कि परमात्मा सब जगह है, 'है' ज्यों का त्यों ही रहता है, कभी बदलता ही नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों का त्यों ही रहता है और अनुभव की बात यह है कि सब संसार परिवर्तनशील है, यह प्रतिक्षण बदल रहा है तथा प्रतिक्षण अभाव में जा रहा है। ये दो बातें हुईं—परमात्मा अपरिवर्तनशील है, जो कि नित्य प्राप्त है। जो परिवर्तनशील नहीं है, वह है तत्त्व है। वह सब जगह, सब देश, सब काल, सब वस्तु, सब प्राणियों में है। वह सबको प्राप्त है, इसलिये वह तो हुआ 'प्राप्त', उस प्राप्त की तरफ दृष्टि न हो, यह बात अलग है, पर वह तत्त्व अप्राप्त नहीं है, क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण है और सबको मिला हुआ है। उस 'है' का अभाव कैसे होगा ? जो वास्तव है, वह मिला हुआ है, प्राप्त है केवल दृष्टि उधर नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है, दृष्टि न करो तो भी वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानो तो वही है, न जानो तो भी वही है। 'है' तो 'है' ही है—'है' तो सुन्दर है सदा। जो 'है' वह प्राप्त है—यह विश्वास करना होगा। फिर वह दीख जायगा और उसका अनुभव हो जायगा, यह है विश्वास की बात।

अब अनुभव की बात यह है कि संसार परिवर्तनशील है, अनित्य है, बदलता है, वह

(पिछले पृष्ठ का शेष)

वत्स सत्यकाम ! तू तो ब्रह्मज्ञानी के सदृश दिखाई दे रहा है। वत्स ! तुम्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश किसके द्वारा प्राप्त हुआ। पूरे घटना-क्रम का सविस्तार वर्णन करने के पश्चात् सत्यकाम ने प्रार्थना की कि प्रभो ! मैंने तो सुन रखा है कि—

भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव,
विद्या विदिता साधिष्ठम्'' ।

आप-सदृश आचार्य के द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है। आप मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने की कृपा करें। गुरुदेव जी ने प्रसन्न होकर कहा—वत्स ! तूने जो कुछ प्राप्त किया है वही ब्रह्मतत्त्व और ब्रह्मज्ञान है। अब तेरे लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। इस प्रकार साधक सत्यकाम गौ-सेवा द्वारा ब्रह्मज्ञानी बन गया।

केवल प्रतीत तो हो रहा है, परन्तु वह रहा है। मनुष्य समझता है कि अमुक आदमी को धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल गया, यह मिल गया, वह मिल गया, परन्तु वास्तव में मिला कुछ नहीं। वह सब वह रहा है, वह प्राप्त नहीं हुआ है। यदि मिल जाता तो और मिलने की इच्छा नहीं रहती, यही मिलने की पहचान है। जब तक मिलने की, पाने की इच्छा है तब तक वास्तविक चीज नहीं मिली है। गीता कहती है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः

—गीता ६/२२

जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे बढ़ कर कोई दूसरा लाभ है—ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जब तक और लाभ मिले और धन मिले और मान मिले और स्वास्थ्य मिले और कोई संयोग मिले—ऐसी इच्छा भीतर है, तब तक आपको असली वस्तु मिली नहीं है—यह पक्की बात है। वह मिल जाने पर फिर मिले, यह इच्छा सदाके लिए शान्त हो जाती है। कोई कामना बाकी नहीं रहती। जो दीखता है वह मिला नहीं है और वह मिलता नहीं है, क्योंकि वास्तव में कुछ हो तब तो मिले! परन्तु मनुष्यों के अन्तःकरण में प्रतीति का जितना आदर है, उतना प्राप्त का आदर नहीं है—यह है उनकी समस्या।

इस समस्या का हल क्या है? जो प्राप्त है, इस पर दृढ़ता से विश्वास करना कि वह हमें प्राप्त है। उसमें भी हमें तो इतना अनुभव है कि मैं तो सदा से हूँ, सदा रहूँगा। बालकपन में जो मैं था, वही आज मैं हूँ। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियाँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, घटनाएँ बदलीं, क्रियायें बदलीं—ये सब बदलीं, परन्तु 'मैं' तो वही हूँ जो पहले था, वही आज मैं हूँ। वेदान्त दर्शन मात्र में स्वरूप की नित्यता के लिये यह प्रबल युक्ति है कि 'मैं वही हूँ'।

कोई दो आदमी पहले मिले थे, उनमें एक बड़ी अवस्था में था और एक छोटी अवस्था में था। आठ-दस वर्षों के बाद फिर मिले तो छोटी अवस्था वाला मनुष्य पूछता है—'बाबा जी! आप मुझे जानते हो!' बड़ी अवस्था वाला उत्तर देता है—भैया! मैं तो नहीं जानता, तुम जानते हो क्या! छोटी अवस्था वाले ने कहा—'मैं तो आपको पहचानता हूँ। देखो! अमुक समय में हम दोनों मिले थे और हम दोनों में अमुक-अमुक बातें हुई थीं। मुझ में ज्यादा परिवर्तन होने से आप नहीं पहचान सके।' बड़ी आयु वाला 'हाँ' भरता है—'अच्छा, वही हो तुम!' छोटी आयु वाले ने कहा—'हाँ, मैं वही हूँ'। बड़ी अवस्था वाला भी स्वीकार करता है—'ठीक है भैया! मैं भी वही हूँ।' छोटी आयुवाला पूछता है—'आपका क्या हाल है। 'आजकल कैसी परिस्थिति है! बड़ी आयु वाला उत्तर देता है कि 'आजकल

तो बड़ी तकलीफ में हूँ, आफत आई हुई है और पैसा है नहीं।' बड़ी आयु वाला पूछता है—'तुम्हारा क्या हाल-चाल है?' छोटी आयु वाला कहता है—'हम तो बड़ी मौज में हैं, काम-धन्धा बहुत अच्छा है।'

इन दोनों की बातों पर विचार करें। जैसे इन दोनों की अवस्थाएँ बदलीं, परिस्थितियाँ बदलीं, पर वे दोनों वे ही हैं। उनकी परिस्थितियों में महान् अन्तर है। अवस्था उनके साथ नहीं रही, परिस्थिति उनके साथ नहीं रही, पर वे दोनों वे ही रहे तो वे परिस्थिति, अवस्था, क्रिया, घटना से असंग हैं। ऐसे ही आप स्वयं इन सबसे अलग हो। ये सब बदलने वाले हैं, प्रतीति मात्र हैं। ये दीखते हैं, पर बदलते रहते हैं। इनको सच्चा और स्थायी मानने से ही अनर्थ हुए हैं और सारे अनर्थ हो रहे हैं।

प्रतीति सच्ची है अथवा झूठी अथवा दोनों से विलक्षण है। इस विषय में मतभेद है, परन्तु यह रहती नहीं, बदलती है—इसमें कोई मतभेद नहीं है। इस प्रतीति को सच्ची भी कैसे कहा जाय, क्योंकि इसको 'है' कहा जाय तो यह रहनी चाहिए, पर यह रहती नहीं और झूठी भी कैसे कहा जाय, क्योंकि यह प्रतीत होती है। इसलिये वेदान्तने इसको 'अनिर्वचनीय' कहा है। तात्पर्य यह है कि इसको सत् भी नहीं कह सकते, असत् भी नहीं कह सकते सत् और असत्—दोनों भी नहीं कह सकते। यह इससे भी विलक्षण है, इसलिये इसको 'अनिर्वचनीय' कहा है यानी इसका विवेचन नहीं किया जा सकता।

अब कहते हैं कि जो दीखता ही नहीं, हम उसको प्राप्त कैसे मानें? उपनिषदों में एक वाक्य आता है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

जो सबको जानने वाला है, उसको किससे जानें? जैसे आँख से सब कुछ दीखता है, पर आँख दीखती नहीं। दर्पण में आँखकी आकृति भले ही देख लो, परन्तु नेत्रेन्द्रिय (आँख) नहीं दीखती अर्थात् जो देखने की शक्ति है, वह नहीं दीखती। फिर भी यह मानते हैं कि इसमें एक देखने की शक्ति है जिससे दीखता है। अगर देखने की शक्ति न हो तो यह दीखने वाला कैसे दीखता? ऐसे ही यह 'प्रतीति' जिससे प्रतीति होती है, जो इस प्रतीति को जानने वाला है, वह सदा ही है। वही प्राप्त है। अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती? प्रतीति परिवर्तनशील है और जो इसे देखता है, वह है द्रष्टा—देखने वाला। उस देखने वाले को ईश्वर कह दो, जीवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो—ये उसको कहने के कई नाम हैं, पर वह एक ही तत्त्व है।

—卐—

उत्तम अधिकारी वही है, जिसमें तत्त्व प्राप्ति की लगन हो, जिसे तत्त्व प्राप्ति में भविष्य अच्छा न लगे अर्थात् जो वर्तमान में ही तत्काल तत्त्वप्राप्ति करना चाहता हो।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

प्रातःकालीन बेला में ध्यानाभ्यास के पश्चात् आश्रम के सभी अन्तःवासी ब्रह्मचारी जिनमें महिला और पुरुष दोनों ही थे, अपने श्रद्धास्पद गुरुदेव जी के आने से पूर्व ही आ-आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। गुरुदेव जी के पीठासीन होते ही सभी ने क्रमशः उनके चरण-कमलों का वन्दन किया और सभी ने सामूहिक रूप से जय गुरुदेव के घोष से नभो-मण्डल को निनादित करते हुए अपने-अपने आसनों पर अपना स्थान ग्रहण कर लिया। सबके शान्त चित्त यथा स्थान बैठ जाने पर गुरुदेव जी ने सभी शिष्यों पर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि डाली और सामूहिक रूप में सभी से कहा—बोलो क्या कोई जिज्ञासा है ?

प्रश्न—विनीत-भाव से दोनों हाथ जोड़कर एक शिष्य खड़ा हुआ और कहने लगा—पूज्य गुरुदेवजी ! आज हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि यदि कोई साधक अथवा शिष्य अपने एक गुरु के आश्रम को छोड़कर किसी अन्य आश्रम में किसी अन्य गुरु की सेवा में जाना चाहे तो क्या इसमें कोई दोष होगा ?

उत्तर—आचार्य गुरुवर इस प्रश्न को सुन कर मुस्कराये और बोले— सुनो सौम्य ! कुलार्णव तन्त्र में इस सम्बन्ध में एक उत्तम परामर्श इस प्रकार दिया गया है—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः,
पुष्पात् पुष्पान्तरं।
ज्ञानलुब्धस्तथः शिष्यो,
गुरो गुर्वन्तरं व्रजेत ॥

अर्थात्—जैसे मधु प्राप्ति के लिए भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर जाता है, वैसे ही ज्ञान-पिपासु शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु की सेवा में जा तो सकता है, परन्तु ऐसा करते समय पूर्व गुरु के प्रति श्रद्धा और सम्मान के उसके भाव में कोई कमी नहीं आनी चाहिये, ऐसा परिवर्तन तभी करना चाहिये, जबकि साधक शिष्य को यह अनुभव होने लगे कि गुरु उपदिष्ट साधन अपनाने पर भी मुझे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है तथा इसके लिये मुझे अन्यत्र जाना आवश्यक है। सम्भव हो तो अपने पूर्व गुरुदेव जी से भी इसकी अनुज्ञा ले लेनी चाहिये।

गुरुवर के इस उत्तर के पश्चात् सभी शिष्य शान्त भाव से आगे का प्रवचन सुनने के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय एक अन्य शिष्य खड़ा हुआ और करबद्ध होकर कहने लगा—हे गुरुदेव हममें से अधिकांश—बहुत से साधनों को जानते हैं किन्तु उन्हें फिर भी इष्ट-सिद्धि प्राप्त नहीं होती इसका कारण क्या है?

उत्तर—गुरुदेव जी ने कहा—हे सौम्य! तुम्हारा प्रश्न ठीक ही है और भी कुछ साधकों को यह शिकायत रहती है कि वे योगांगों के ज्ञाता तो हैं, जो बताया जाता है उसे वे भली प्रकार ध्यान में बिठा भी लेते हैं, लेकिन साधन करने पर उन्हें वांछित सफलता नहीं मिलती। ऐसा क्यों होता है। गुरुदेव बोले—सुनो पुत्र! मुख्य रूप से यह शिकायत प्रायः ऐसे साधकों को ही रहती है, जो न तो किसी सुयोग्य आत्मज्ञानवान गुरु के चरणों में बैठकर उनके निर्देशन में यौगिक साधनायें करते हैं और न योगानुशासन का पालन करना चाहते हैं। न नियमित जिनकी दिनचर्या होती है और जो न दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कार सेविता दृढ़-भूमि पर ही पहुँचकर अपने पैर जमा पाते हैं यानी निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास में जो जुटना नहीं चाहते, उन्हें योग में इष्ट सफलता मिल ही कैसे सकती है। ऐसे साधक जो केवल पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर योगारूढ़ होना चाहते हैं, कभी भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। सुनो सौम्य!

इस विषय में योगवेत्ताओं के इस परामर्श पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

प्रशान्त चित्तस्य जितेन्द्रियस्य,
गुणान्वितस्याऽऽगुरु सेविनश्च।
नूनं भवेद्योग समस्त सिद्धि-
र्नान्येतरासक्त जनस्य काव्य॥

अर्थात् जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, गुणी एवं भली प्रकार गुरु की सेवा करने वाला होता है उसी को योग-सिद्धियाँ सुलभ होती हैं, अन्य विषयासक्तों को नहीं।

उपर्युक्त श्लोक में 'गुणान्वितस्याऽऽगुरु-सेविनश्च' शब्द है इसका आशय यही है कि बिना सद्गुरु के भली प्रकार सेवा किये योग-साधन सिद्ध नहीं हो सकता। सद्गुरु की प्रसन्नता से ही आत्म-दर्शन का लाभ होता है। 'आचार्यवान्पुरुषोवेद' कथन से भी इसी का समर्थन किया गया है। जो गुरु वाला होता है वही आत्म-लाभ कर सकता है।

इनके अतिरिक्त सिद्धि प्राप्ति के लिये उत्साह, साहस, धैर्य, श्रद्धा और दृढ़ संकल्प भी योग-सिद्धि की सुलभता में सहायक होता है। अतः इन गुणों को साधक को धारण करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए तथा आहार भी योगाभ्यासियों को सदैव परिमित और सात्विक ही करना चाहिए। इससे सात्विक विचार बनेगा और विचारों के सात्विक बनने से जीवन का सारा क्रिया-कलाप ही सात्विक बन जायगा।

आश्रम-समाचार—

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का

वार्षिक महोत्व सम्पन्न

[ब्रह्मचारी श्री सत्येन्द्र जी द्वारा]

सदा की भाँति इस वर्ष भी योग-साधन आश्रम, रेलवे रोड ऋषिकेश का वार्षिक महोत्सव योग-योगेश्वर अनन्त श्री सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की अध्यक्षता में ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी और दशमी को बड़े ही पावनतम और उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया गया। यद्यपि देश में आतंकवादियों ने सामूहिक षडयन्त्र के द्वारा अचानक फट जाने वाले बमों को रेलगाड़ियों, स्टेशनों, रेल और बस स्टैण्डों पर यत्रतत्र रखकर एक अभूतपूर्व दहशत का वातावरण पैदा कर रखा था। सभी प्रकार के यात्रा-साधन निरापद नहीं रहे थे। प्रायः लोगों ने आतंकवाद के इस खतरे को देखते हुए अपनी यात्रायें स्थगित कर रखी थी, किन्तु फिर भी महाप्रभु जी के योग-साधन आश्रम के इस महोत्सव में भाग लेने के लिए श्री गुरुदेव जी का निमन्त्रण पाकर बहु-संख्यक गुरु-भाई बहन यहाँ नियत तिथियों पर पहुँच रहे थे। जम्मू से ब्रह्मचारी श्री हरिभक्त चैतन्य जी, श्री पं० पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री, श्री सत्य प्रकाश जी शास्त्री, श्री मु गेश्वरानन्द जी, पं० चोखदत्त जी शर्मा तथा भजनोपदेशक श्रीइन्दु शर्मा आदि सभी विद्वान उपदेशक और वक्ता उत्सव में भाग लेने पधारे हुए थे। उत्सव का सभी कार्यक्रम नियत समय पर प्रतिदिन सुव्यवस्थित ढंग से आरम्भ होकर सम्पन्न होता रहा। सभी विद्वानों के योगांगों पर महत्वपूर्ण प्रवचन हुए। परम विदुषी संगीतरत्न बहन उमा शर्मा का प्रवचनात्मक संगीत सदा की भाँति इस वर्ष भी श्रोताओं को भाव-विभोर बनाकर अपनी विशिष्टता को उजागर करता रहा।

श्री गुरुदेव जी ने अपने महत्वपूर्ण प्रवचनों में योग के विविध अंगों पर प्रकाश डालते हुए अपने गुरुदेव श्री महाप्रभु जी के लीला-चरित्रों पर भी सजीव मनोमुग्धकारी और प्रेरक वर्णन प्रस्तुत किया। इनमें योग-सिद्धांतों की पूरी-पूरी पुष्टि की गई।

एक दिन तपोमूर्ति उमा बहिन जी ने अपने मध्याह्न के समय सत्सङ्ग में ब्रह्मपुरी में निवास करने वाले योगिराज श्री कृपालानन्द जी की कथा कही। योगिराज श्री कृपालानन्द जी एवं श्री हीरागिरि जी का कथा-प्रसंग भी सुनाया। योगिराज कृपालानंद जी अपने इष्टदेव भगवान शङ्करजी की स्वरूप लीनता प्राप्त कर समाधिस्थ रहा करते थे, जिस के फलस्वरूप उनको सभी शाम्भवी शक्तियाँ उपलब्ध थीं। अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ती प्राकाम्य ईशत्व वशित्व अवकाशावस्था-

सित्व आदि-आदि सकल ऐश्वर्यों को वे प्राप्त कर चुके थे। इनके इस पवित्र चरित्र में श्री बहन जी ने यह पूरी तरह समझा दिया कि वे भूतवर्ती महात्मा थे और यथकामावसायित्व आदि शास्त्रों के अनुसार जहाँ पहुँचना चाहते थे तत्काल पहुँच जाया करते थे। अन्त में योगिराज कृपालानन्द जी की शक्तियों के आगे हीरागिरि को नत-मस्तक होना ही पड़ा और योगिराज श्री कृपालानन्दजी के द्वारा ही अपने अन्तर्जगत में जागृति पाकर वह कृतार्थ हुए।

सङ्कीर्तन मण्डलियों में झाँसी वाले भाई श्री कृष्णकान्त जी का मण्डल, बहिन श्री आशारानी दुबे का मण्डल, मण्डी हिमाचल वाला मण्डल, आगरे वाली बहन श्री विमला देवी का मण्डल अति ही सराहनीय रहा। इन सभी बहन-भाइयों ने मिलकर आश्रम में सङ्कीर्तन की धूम मचा दी। उत्सव सम्बन्धी प्रबन्ध में एवं विशेषतः भण्डारे के आयोजन में भाई रंगीलाल जी का सहयोग एवं पुरुषार्थ पूरी तरह सराहनीय रहा। ब्रह्मचारी श्री पूर्णचन्द एवं अन्य आश्रमके सभी ब्रह्मचारियों का तो सब काम प्रशंसनीय था ही।

श्री गुरुदेव जी महाराज का प्रवचन तो सदा ही सारगर्भित रहता ही है। श्री प्रभुजी की लीलाओं के योग-सिद्धान्तपरक अनेक उत्साह-वर्द्धक प्रसंगों का उल्लेख करते हुए आपने सभी उपस्थित योग-साधक अपने शिष्यों को परामर्श दिया कि उन्हें श्री प्रभुजी के लीला-प्रसंगों से प्रेरणा लेकर सदा श्रद्धा और धैर्य के साथ योगमार्ग पर अनवरत चलते रहना चाहिए यही एकमात्र उनके कल्याण का मार्ग है।

इस वर्ष शोभा-यात्रा नहीं—

जैसा कि इन पंक्तियों के लेखक ने ऊपर लिखा है कि इस वर्ष महोत्सव जिन तिथियों में आयोजित हो रहा था, उन्हीं दिनों दिल्ली तथा समीपवर्ती राज्यों में आतंकवादियों और साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा अनेक निरपराध व्यक्तियों की हत्यायें करने का षड्यंत्र व्यापक रूप से शुरू हो गया था। बहुसंख्यक निर्दोष व्यक्ति बम-विस्फोटों की घटनाओंमें मारे जा चुके हैं। यह दु:खद समाचार सर्वत्र फैल गया था। श्री गुरुदेवजी महाराज को भी इन समाचारों ने बड़ा आघात पहुँचाया था। इसलिये उन्होंने यह आदेश दिया था कि ऐसे विषादमय वातावरण में इस बार महोत्सव के अन्तिम दिन निकलने वाली शोभा-यात्रा, जिसमें अनेक आकर्षक रूप झाँकियाँ और गायन मण्डलियाँ रहती थीं इस वर्ष स्थगित रखना ही उचित रहेगा। उत्सव के संयोजकों ने अपने पूज्य गुरुदेव की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर शोभा-यात्रा का सम्पूर्ण आयोजन तुरन्त स्थगित कर दिया। उपदेश, प्रवचन और सङ्कीर्तन आदि के अन्य सभी कार्यक्रम यथा विधि यथा पूर्व सम्पन्न हुए।

कतिपय—

योगासन और उनके लाभ

मुक्तासन

पायु मूले वामगुल्फं, दक्षगुल्फं तथोपरि ।
शिरोग्रीवासमं कायं, मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥

बांये पांव की ऐड़ी को पायुमूल में लगाकर उस पर दांये पांव की ऐड़ी रखे और सिर तथा ग्रीवा को समान रखकर शरीर को सीधा रखता हुआ बैठे । यह मुक्तासन योगियों के लिए सिद्धि प्रदान करने वाला है ।

सभी साधकों को भी यह मुक्तासन सिद्धियों को देने वाला बतलाया गया है । जाबाल-दर्शनोपनिषद ने मुक्तासन का वर्णन इस प्रकार किया है—

निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं, दक्षिणेतर गुल्फतः ।
वामं याम्येन गुल्फेन, मुक्तासनमिदं भवेत् ॥

सीवनी की बारीक रेखा को बांये घुटने से दबाकर दांये घुटने से बांये को दबावे । इस प्रकार यह मुक्तासन होता है ।

वज्रासन

जंघाभ्यां वज्र वत्कृत्वा, गुदपार्श्वे पदावुभौ ॥
वज्रासनं भवेदेतत्, योगिनां सिद्धिदायकम् ॥

दोनों जंघाओं को वज्र के समान दृढ़ करके दोनों पांवों को गुदा के दोनों ओर लगावें तो वज्रासन होता है । यह आसन योगियों के लिए सिद्धि देने वाला है ।

यह आसन अत्यन्त उपयोगी और सरल है, दोन पांवों को पीछे करके घुटनों को धरती में टेक देना चाहिये । नमाज पढ़ते समय मुस्लिम साधक प्रायः इसी आसन में बैठते हैं ।

स्वस्तिकासन

जानूर्वोन्तरं कृत्वा, योगीपादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः, स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥

दोनों जांघों और घुटनों के मध्य दोनों तलवों को रखकर त्रिकोणाकार आसन लगावे और समभाव से बैठे, इसे स्वस्तिकासन कहते हैं।

यह आसन भी कुछ कठिन नहीं है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में इसका रूप इस प्रकार कहा गया है—

वर्ण्यते स्वस्तिकं, पादतलयोरुभयोरपि ।
पूर्वोत्तरे जानुनीद्वे, कृत्वाऽऽसनमुदीरितम् ॥

'दोनों पांवों के तलुओं को दोनों घुटनों के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिकासन है। कितना सीधा, सरल विवेचन है।

गोमुखासन

पादौ च भूमौ संस्थाप्य, पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
स्थिरकायं समासाद्य, गोमुखं गोमुखाकृतिः ॥

पृथ्वी पर दोनों पांवों को रख कर और पीठ के दोनों पार्श्वों में लगाकर देह को सीधा करके गौ के मुख के समान ऊँचा करके बैठने को गोमुखासन कहते हैं।

इस आसन की स्थिति गोमुख की आकृति जैसी होती है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार—

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥

पीठ के बायीं ओर दायीं गुल्फ को और दायीं ओर बांये गुल्फ को लगाने से जो गौ के मुख के समान आसन बनता है, यही गोमुखासन है।

वीरासन

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदुरुसंस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथापश्चाद्वीरासनमितिस्मृतम् ॥

एक जांघ पर एक पांव रखकर दूसरे पांव को पीछे की ओर निकालने से वीरासन हो जाता है।

वीरासन का वर्णन सभी योग-ग्रन्थों में इसी प्रकार मिलता है। "एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः" इत्यादि (शाण्डिल्योपनिषद) के अनुसार भी एक जांघ को एक पांव से तथा दूसरी जांघ को दूसरे पांव से मिलाकर बैठना वीरासन कहलाता है।

धनुरासन

प्रसार्यपादौभुविदण्डरूपौकरौचपृष्ठेधृतपादयुग्मम् ।
कृत्वाधनुस्तुल्यविवर्तितांगं निगद्ययोगी धनुरासनतत् ॥

दोनों पांवों को भूमि पर सीधे फैला दे, दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों चरणों को पकड़ ले तथा धनुष के आकार में शरीर को करले, योगियों के अनुसार यह धनुरासन है।

इस आसन की स्थिति बिल्कुल धनुष जैसी होती है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद के अनुसार—

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥

दोनों पांवों के अँगूठों को पकड़कर धनुष के आकार में कानों तक खींचने से धनुरासन होता है। इस प्रकार यह आसन भी कुछ कठिन नहीं है।

मृतासन

उत्तानशववद्भूमौ शयानं तु शवासनम् ।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ॥

मृतक के समान अपने सब शरीर को ढीला करके धरती पर लेट जाय। यह शवासन श्रम को दूर करने और चित्त को सन्तोष देने वाला है।

यह आसन भी बहुत सरल है। अपने सम्पूर्ण शरीर को मुर्दे के समान ढीला छोड़कर पृथ्वी पर लेट जाने से यह आसन सिद्ध हो जाता है इससे शारीरिक और मानसिक थकान मिटती है और चित्त में प्रसन्नता के भाव उदय होते हैं अर्थात् चिन्ता मिट जाती है।

गुप्तासन

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदंगुप्तासनं विदुः ॥

दोनों घुटनों के मध्य भाग में दोनों पांवों को छिपाकर रखे और उन पांवों को गुह्य प्रदेश को कर ले, वह गुप्तासन कहलाता है।

यह आसन भी बहुत सरल, सुबोध है और उपर्युक्त स्थिति में सिद्ध हो सकता है, इसलिये अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

मत्स्यासन

मुक्त पद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यांशिरोवेष्टयमत्स्यासनं तु रोगहा ॥

मुक्तासन की स्थिति में हाथों की कुहनियों से सिर को लपेट ले और धरती में चित लेट जाय । यह रोगों को नष्ट करने वाला मत्स्यासन कहलाता है ।

मत्स्य का अर्थ है मछली और मत्स्यासन का अर्थ है मछली जैसी स्थिति में बैठना । इस आसन से सभी रोग दूर हो सकते है ।

पश्चिमोत्तानासन

प्रसार्यपादौभुविदण्डरूपौ सन्यस्तभालश्चितियुग्ममध्ये ।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्र पीठं पश्चिमोत्तानमाहुः ॥

दोनों पांवों को दण्ड के समान सहज भाव से भूमि पर फैलावे और दोनों पांवों के अंगूठों को पकड़ ले, फिर दोनों जांघों पर सिर को रखे तो यह पश्चिमोत्तान आसन होगा । यह आसन भी कुछ कठिन नहीं । त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् में भी ऐसा ही कहा है कि—

प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामंगुष्ठमादरात् ।
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं ताणमुच्यते ॥

दोनों पांवों को पृथिवी पर फैला कर दोनों हाथों से पांवों के अंगूठों को पकड़ ले और फिर सिर को घुटनों पर टिकावे, यह पश्चिमोत्तानासन है ।

मयूरासन

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम् ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ॥

दोनों हाथों की हथेलियां धरती में टिका कर दोनों कुहनियों को पार्श्वों में लगाले । फिर दोनों पांवों को पीछे की ओर इस प्रकार खड़े करें, जिस प्रकार कि डण्डे को खड़ा किया जाये । यह मयूरासन कहलाता है ।

'मायूरमेतं' यह आसन 'मायूर' है । मयूर का अर्थ मोर और मोर के समान स्थिति बना लेने का अर्थ मयूरासन । जिस प्रकार मोर अपने दो पतले पांवों के सहारे खड़ा रहकर अपने भारी शरीर को साधे रहता है, उस प्रकार खड़े रहने का अभ्यास ही 'मायूर' है । वैसे यह आसन कठिनाई से अभ्यास में आता है । इसलिए इसमें अधिक समय लगना भी स्वाभाविक है ।

—घेरण्ड संहिता से

SIDDHAYOGA—Regd

न

...हए ...ाम ही ...रिपक्व की काल तक ध्यान ...ार, छः, आठ इत्यादि

...ुण्डलनी जागरण

...र के अभ्यास से या तो प्राणोत्थान ...वा कुण्डलनी जागरण। मूलाधार ...ाश का उत्पन्न होना और सर्वत्र शरीर ...पहुंचना कुण्डलनी जागरण है और शरीर में प्राण की सरसराहट अर्थात् चींटी की चाल से गुदगुदी उत्पन्न करते हुए शरीर में चलना प्राणोत्थान है।

यदि इस अभ्यास में कुछ दिन भी लग जायें तो घबराना नहीं चाहिये। बराबर अभ्यास करते रहो और वह भी आस्थापूर्वक कुछ दिनों के अभ्यास से प्राणोत्थान अवश्य होगा और उस समय कोई वस्तु सरसर करती हुई या कीड़ीकी तरह चलती हुई लघुमस्तिष्क की ओर जाती सी प्रतीत होगी—ऐसा प्रतीत होगा मानो कोई कीड़ी मधुर सा स्पर्श करती हुई ऊपर की ओर चल रही है अथवा एक प्रकार का वायु स्पर्श करता हुआ ऊपर को जा रहा है। उसके स्पर्श से गुदगुदी सी आनंद सा आता है।

यह वायु ब्रह्मरन्ध्र में जाकर आघात करता है। उससे कम्प उत्पन्न होता है और अभ्यासी एक मस्ती-सी में झूमने लगता है और उस आघात से आनन्दकी अनुभूति-सी होने लगती है। यहीं मूलाधार और ब्रह्मरन्ध्र में धारणा को परिपक्व करना चाहिये। इसी को प्राणोत्थान कहते हैं।

भ्रू मध्य के प्रकाश को आलंकार बंध लगा कर ध्यान की दृष्टिसे शरीर के बाहर से मूलाधार पर फेंकें और गुदा को पुनः पुनः संकोच कर वहां दिव्य प्रकाश की भावना करें।

सामने बैठे हुए किसी अभ्यासी के मूलाधार में अपनी दिव्य दृष्टि को फेंकें और वहां ध्यान की ठोकर लगाकर प्रकाश को ऊर्ध्व-गमन कराने का यत्न करें। इस प्रकार से अपने मूलाधार में भी प्रकाश उत्पन्न हो जाता है।

खुले नेत्रों से भी ध्यान की दृष्टि से अपने या दूसरे के मूलाधार में प्रकाश फेंका जा सकता है।

द्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिकपत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराईं (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book–Post

श्री ....

....

....

....

अन्नं वै सोमः

समस्त लताएँ, वनस्पतियाँ और अन्न का नाम सोम है। शतपथ के अनुसार, अन्न सोम है।

इस अन्न के पाचन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह भी सोम है। शतपथ, कौषीतकी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में लिखा है कि प्राण का नाम सोम है। अन्न खाने के अनन्तर, स्थूल भाग के परिवर्तन से जो सूक्ष्म विद्युत स्वरूप वाली शक्ति देह में उत्पन्न होती है, उसकी संज्ञा प्राण है, वही सोम है। और भी शक्ति का सबसे विशुद्ध और सब धातुओं के द्वारा अभिषुत उत्कृष्ट सार जो वीर्य या रेत है वह भी सोम है। इसलिए सब ब्राह्मणकारों ने लिखा है—रेतो वै सोमः

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, कसाई गली, ताजगंज, आगरा–1 फोन